ALOCHANA JULY-DEC 1970 G.K.U.

...maj Foundation C...

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

679568

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

59, 115

COMPILED

Stock Verification 2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध : मूल्यांकन-परिचर्या

(एक अधूरी कविता जो......)

079568
REFERENCE BOOK

इन्द्रनाथ मदान

मुक्तिबोध की कविता की पहचान अभी जारी है, यह अभी अधूरी है। इसके कारण हैं। अब तक इनकी कुल ४८ रचनाएँ छप सकी हैं—१७ 'तार सप्तक' में, २८ 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में और ३ इधर-उधर की पत्रिकाओं में। कुछ साक्षी भी हैं। 'मुक्तिबोध ने अपनी स्मृति के लिए सैकड़ों कविताएँ छोड़ी हैं।...मुक्तिबोध को शायद यह भी भय था कि वे अब अपनी अधूरी कविताएँ पूरी नहीं कर पायेंगे अतः उन्होंने मुझ से कहा था कि उनकी कुछ अधूरी कविताएँ संपादित कर मैं इस संकलन में शामिल कर दूँ।...मैंने उन्हें वैसा का वैसा एक अलग संकलन में छपने के लिए रख छोड़ा है।' यह बाहर कब आ सकेगा इसका पता श्रीकान्त वर्मा को ही हो सकता है। इनकी कविताओं पर बहुत कम लिखा गया है। इसलिए नहीं कि इस संकलन का इन्तजार हो रहा है ताकि इनकी रचना-प्रक्रिया पूरी तरह समझ में आ जाए। और जो कुछ लिखा गया है वह भी इनके निधन के बाद इसके पहले शायद इनकी कविता, कविता मानी नहीं जाती थी। अपनी कविता के बारे में 'नयी कविता' के नाम पर सबसे अधिक अभी तक मुक्तिबोध ने ही लिखा है। इतनी थोड़ी कविताओं के आधार पर किसी को कवि मान लेना अजब-सा लगता है। इनकी छपी कविताओं को लेकर तो यह कहना शायद असंगत न हो कि मुक्तिबोध ने 'तार सप्तक' से लेकर 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तक **एक ही कविता लिखी है जो अधूरी है और जो शायद पूरी से बेहतर है।** यह अधूरी इसलिए है कि इसके मूल में काव्य-व्यक्तित्व और कवि-व्यक्तित्व की एक साथ संशोधन या रूपांतरण की जो प्रक्रिया है वह इनकी अन्तिम कविता 'अँधेरे में' तक जारी है। मुक्तिबोध ने किस तरह, और कैसे कहाँ तक भीतर से उसे संशोधित और संपादित किया है, बाहर को पाने की कोशिश की है, बाहर-भीतर के तनाव का कहने के लिए कितना झेलना और किस तरह जूझना पड़ा है, कितनी 'छील-छाल या काट-छाँट' करनी पड़ी है—इसकी गवाही न केवल इनकी कविताओं में मिलती है, इनके निबन्धों में भी इन्हें आँका जा सकता है।

अपनी कविता के बारे में मुक्तिबोध का अपनी रचनाओं में यह कहना कि यह नागात्मक है, हिडिम्बा है—

१. लहराओ लहराओ नागात्मक कविताओ !

२. इसीलिए मेरी कविताएँ
भयानक हिडिम्बा हैं
वास्तव की विस्फारित प्रतिभाएँ

३. यों मेरी कविता है बिना-घर
बिना-छल गिरस्तिन।

४. हर पल चीखता हूँ, शोर करता हूँ
कि वैसी चीखती कविता बनाने में लजाता हूँ

यह कवि की ज़बानी कविता में इसका चेहरा है और आलोचना में इसे विस्तार से अंकित किया है।[1] इनके आलोचकों ने भी इनकी कविता के चेहरे को पहचानने की कोशिश की है। इनकी कविता लावा है (**माचवे**), यह कल होने वाली घटनाओं की कविता है (**परमानन्द**) इसी तरह मुक्तिबोध कवियों का कवि है। इनकी कविता अरक्षित जीवन की कविता है (**रामविलास**), इनकी कविता का संसार कुल मिलाकर निषेध का निषेध है (**नामवर सिंह**) इनकी कविता, अद्भुत संकेतों-भरी, जिज्ञासाओं से अस्थिर—कभी दूर से शोर मचाती, कभी कानों में राज की बातें कहती चलती है (**शमशेर**), इनकी कविताओं में स्थिरता नहीं, गति है, इनकी कविताएँ चलती हैं अथवा कहिए ले चलती हैं (**व्यास**), इनका काव्य संगीत का विरोध करता है, संगीत को कविता-विरोधी मानता है (**श्रीकान्त**) और इनकी समस्त कविताएँ एक बड़ी कविता लगती हैं (**विष्णु खरे**)। इन सुभाषितों में एक और को भी यदि जोड़ दिया जाए कि इनकी कविता एक अधूरी कविता है जो शायद पूरी से बेहतर है (**मदान**) तो भी इनकी कविता का चेहरा पकड़ में नहीं आता—यह क्या, कैसे और किस तरह का है। मुक्तिबोध

१. 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' से और 'एक साहित्यिक की डायरी'

029568
CHECKED 1973

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवियों का कवि है—इससे बात गोल-मोल हो जाती है। और इसलिए शायद सही भी लग सकती है। इसी तरह के अन्य सुभाषित हैं जो परीक्षकों के काम अवश्य आ सकते हैं। अब तक कुबेरनाथ राय ने 'ब्रह्म राक्षस' को लेकर और नामवर सिंह ने 'अँधेरे में' के आधार पर इन दो कविताओं की राह से गुजरने की कोशिश की है जिससे इनकी कविता का चेहरा पूरी तरह पकड़ में तो नहीं आता लेकिन थोड़ा कम धुंधला पड़ जाता है। यह शायद इसलिए कि कविता का विश्वास करना तो अज्ञेय को भी भाता है। डॉ० रामविलास ने भी इनकी कविता की चीर-फाड़ तो की है; लेकिन इसमें इनकी कविता के अनेक उद्धरण देकर भी इसे बोलने का कम अवसर इसलिए दिया है ताकि वह अधिक बोल सकें। इनकी कविता को अस्तित्ववाद और रहस्यवाद के रंग में रंजित करने के लिए इनके बिम्बों और प्रतीकों की शाब्दिक मीमांसा की है, इनकी सतह पर रहकर इनके भीतर या परे जाने से परहेज किया है। आलोचक की चीर-फाड़ से यह संकेत निकलता है कि इनकी कविताओं में रहस्य-वाद का पुट है जिसकी पटरा मार्क्सवाद से बैठ नहीं पाती या बैठ ही नहीं सकती। इससे वह यह नतीजा निकालना चाहते हैं कि मुक्तिबोध को जो 'प्रतिबद्ध' खेमे का कवि समझा जाता रहा है यह एक भूल थी जिसे सुधारना आवश्यक हो गया है। अपनी कविता में वह जब अकेले हैं तो वह अस्तित्ववादी हैं, पूरे सत्य को पाने की प्रक्रिया में वह रहस्यवादी हैं; लेकिन नये तौर पर जब वह वास्तव का चित्रण करते हैं तो वह मार्क्सवादी अन्दाज़ में बात करते हैं। इसका मतलब यह निकला कि मुक्ति-बोध की कविता मुखौटे बदलती रहती है। पहली बात तो यह है अस्तित्ववाद या रहस्यवाद का कविता में निषेध नहीं है और दूसरी यह कि इससे कविता न तो बनती है और न ही बिगड़ती है। इस तरह का आरोप ब्रेख्त के काव्य-व्यक्तित्व पर लगाया गया था जो किसी वाद में जकड़ा जाने वाला नहीं था। एक संसार इनकी कविता की सराहना करता था और इनके मार्क्सवाद की निन्दा और दूसरा इनके मार्क्सवादी होने का उपयोग करता था और इनकी कविता को संदेह की दृष्टि से देखता था। यदि आलोचक के अनुसार मुक्तिबोध का कवि इनमें समन्वय स्थापित कर पाता या पन्त की तरह सम-झौता कर लेता तो शायद कविता न कर पाता। इसलिए इनमें समन्वय का अभाव या इनमें तनाव ही इनके काव्य-सृजन के मूल में छिपा हुआ है या इसका राज़ है, रहस्य नहीं है। इस तरह आलोचक का खेद निराधार है। मुक्तिबोध कोरे चिन्तक नहीं हैं, इनका चिन्तन भी संवे-दना में भीगा हुआ है या जीवन में भीगा हुआ है। इनकी कविता की पहचान इनकी रचनाओं के आधार पर करना बेहतर होगा, न कि इस आधार पर कि वह इस तरह क्यों है और इस तरह क्यों नहीं है।

२

मुक्तिबोध की कविता की सही पहचान 'क्या, कैसे और किस तरह' के आधार पर ही हो सकती है और पटरी बिठाने या न बिठा सकने की बात इस पर रोशनी तो डाल सकती है कि वह क्यों इस तरह है; लेकिन इसके मूल्यांकन का आधार नहीं बन सकती कि यह क्या, कैसे और किस तरह है। इस बात को बार-बार इसलिए दोहराना पड़ता है कि हर बार आलोचना में कभी वकील की वकालत तो कभी जज का फैसला पढ़ने को मिलता है। मुक्तिबोध की कविता 'तार सप्तक' की रचनाओं से 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तक आने में इनके काव्य-व्यक्तित्व के निरन्तर संशोधन की जो शायद इनके कवि-व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है गवाही देती है, काव्य-भाषा में निखार और परिष्कार का परिचय भी जो अपनी सीमा में या युग-बोध की सीमा में बँधा हुआ है। इनकी काव्य-भाषा तत्सम से तद्भव की ओर आने की कोशिश में है; लेकिन तत्सम से छुटकारा पाने से रह भी जाती है। इनकी कविता अज्ञेय की कविता की तरह तीन नावों में बार-बार बैठने या लेटने के बजाय एक ही नौका में सवार होकर एक लम्बी यात्रा पर निकल पड़ती है, अज्ञेय की कविता की तरह किनारे भी नहीं लगती (असाध्य वीणा), मँझ-धार में ही गोते खाती रहती है और 'परम अभिव्यक्ति' की बात अधूरी रह जाती है। (अँधेरे में)। यह शायद इसलिए कि अज्ञेय की कविता आत्मान्वेषण की है और मुक्तिबोध की कविता आत्म-संशोधन की है, एक आत्मा को पहचानने में व्यस्त है और दूसरी इसे बदलने में संलग्न। अपने सम्बन्ध मे मुक्तिबोध का कहना है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक अपनी रचना के माध्यम से अपने को बनाता है, भले ही उनकी रचनाएँ अधूरी रह जाएँ। कवि जीवन को और-और जानने लगता है, उसका व्यक्तित्व और-और समृद्ध होने लगता है।[1] इस दृष्टि से मुक्तिबोध की कविता अधूरी है जो शायद पूरी से बेहतर है। इनकी कुछ कविताओं में सृजन-प्रक्रिया बाधित होकर कवि-व्यक्तित्व को बनाने के काम तो आ जाती है; लेकिन काव्य-व्यक्तित्व बनने से रह जाता है। मुक्तिबोध की यह धारणा है कि कवि के अनुरोधों को कविता में दखल देने की पूरी छूट हो। इस हक को कौन छीन सकता है, इसे छीनना आरोपित दृष्टि का परिणाम होगा, लेकिन जब कवि के अनुरोध कविता में न होकर कविता पर होने की गवाही देते हैं तो कविता टूट-टूट जाने का खतरा मोल ले लेती है। इसलिए कवि के अनुरोध यदि सृजन-प्रक्रिया का अभिन्न अंग बन कर आते हैं तो कविता दोनों स्तरों पर संगत हो सकती है—काव्य-व्यक्तित्व के स्तर पर और कवि-व्यक्तित्व पर। इस तरह ब्रेख्त की कविता है। 'प्रसाद' कवि के आन्तरिक अनुरोध जब **कामायिनी में** न होकर **कामायनी पर** होने की साक्षी देने लगते हैं तो ये इसे असफल कृति बना डालते हैं (आनन्दवाद)। मुक्तिबोध की कविताओं में यह खतरा कभी टल गया है तो कभी टलने से रह गया है जिससे कवि-व्यक्तित्व को शायद लाभ हुआ होगा; लेकिन काव्य-व्यक्तित्व को अवश्य हानि पहुँची है। उदाहरण के लिए 'तार सप्तक' की आधी रचनाओं में यह टल गया है—दूर तारा, अशक्त, नूतन अहं, विहार, आत्म-संवाद, व्यक्तित्व और खण्हडर, एक आत्म-वक्तव्य और आधी में यह टलने से रह गया है और कविता को तोड़ गया है या इसमें दरारें डाल गया है—आत्मा के मेरे मित्र, मृत्यु और कवि, खोल आँखें, पूंजीवादी समाज के प्रति, नाश देवता, सृजन-क्षण, अन्तदर्शन, मैं उनका ही होता, हे महान आदि। यदि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज अभिव्यक्ति की खोज है और परम अभिव्यक्ति ही परम अस्मिता है तो 'तार सप्तक' की कुछ रचनाओं में इससे जूझने का परिचय तो अवश्य मिल जाता है, परन्तु इसे परम अभिव्यक्ति कहना संगत नहीं जान पड़ता। मुक्तिबोध का कवि बार-बार आत्म-संशोधन, रूपांतरण, संपादन का संकेत अपनी कविताओं में देते रहते हैं। 'दूर तारा' कविता में एक आसमान का तारा है जो शायद आवारा नहीं है और दूसरा धरती का जिसे मनु का पुत्र कहा गया है। दोनों 'शून्य में निस्संग' हैं, दोनों अकेले हैं, दोनों का पथ विराट है,—इन दोनों को नियति की कविता में आँका गया है। धरती का तारा यानी मनु का पुत्र मैल से घिरा हुआ है जिसे धोने की बात व्यक्तित्व के संशोधन से जुड़ कर इस कविता को सृजन के स्तर पर उठा देती है। अन्तिम तान इस पर टूटती है कि कवि हर मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता है, कवि का अनुरोध कविता में है। क्या इस में अकेलापन अस्तित्ववादी मुद्रा में है? क्या मैल को धोने की बात 'अपराध-भावना' का परिणाम है? इसी तरह 'अशक्त' कविता में जिन्दगी के मायने क्या हैं, इसका मतलब क्या है—इसे पहचानने के लिए कविता—नायक हर जोखिम को उठाने के लिए तैयार है। मन में संशय का कीड़ा लग गया है। क्या छायावादी बोध में कीड़ा लग गया है या विश्व-बोध में। मुक्तिबोध का कवि, यह महसूस करने लगा है कि विरह, दुःख, मधुर आराधना आदि के गीत गाना सतही चीज़ है। इसी तरह पीठ पर लदी ज्ञान की गठरी या कोरे चिन्तन से कुछ नहीं बन पा रहा है। इसे बेगार या बेकार की कड़ी यात्रा कहा गया है; लेकिन यह तूफ़ान के नाम से डरने वाला यात्री भी नहीं है। वह भीतर के खोखलेपन के बावजूद अपनी खोज जारी रखेगा—

> **जब कि अन्दर खोखलापन कीट-सा**
> **है सतत घर कर रहा आराम से**
> **क्यों न जीवन बृहद् अश्वत्थ यह**
> **डर चले तूफान के ही नाम से।**

क्या पीपल या बरगद के काव्य-व्यक्तित्व में अस्तित्ववादी अन्दाज़ को खो निकालना संगत है? क्या खोखलेपन का यह बाँध है? यदि यह है तो आने वाली पंक्तियों को काट देना होगा जिन्हें संदर्भ से तोड़ा तो जा सकता है, लेकिन कविता से निकाला नहीं जा सकता। मुक्तिबोध का कवि छायावादी बोध और भाषा से छुटकारा पाने की कोशिश में और यह कोशिश 'मेरे अन्तर' कविता में जारी है; लेकिन अभी पुरानी केंचुल को उतारने का मौसम नहीं आया है। कवि का अन्तर

१. नयी कविता का आत्म संघर्ष—पृ० १७७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शापित है; लेकिन उसका संकल्प दृढ़ है—

पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं
जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ता-लड़ता थका नहीं
उसने ईश्वर-संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया

क्या अपने से लड़ने का मतलब अपना संशोधन नहीं है जो बराबर जारी है। इसी तरह 'नूतन अहं' में अपने लड़ने की कोशश है, स्वयं पर अंकुश लगाने का यत्न है जिससे तनाव की स्थिति या गति बनी रहती है और कवि से सृजन कराती है—

अहंभाव उत्तुंग है तेरे मन में
जैसे घूरे पर उट्ठा है
धृष्ठ कुकुरमुत्ता उन्मत्त !

इस कविता में कुकुरमुत्ता अहंभाव की तुच्छता और लघुता का संकेत देता है, जब कि निराला का कुकुरमुत्ता एक तरफ कवि के उपेक्षित अहं का और दूसरी तरफ गहरे स्तर पर विसंगति का संकेत देता है जिसकी अभिव्यक्ति व्यंग्यात्मक तथा कामदीय धरातल पर है। मुक्तिबोध की कविता में इसका संकेत त्रासदीय तनाव के स्तर पर व्यक्त हुआ है। इसी तरह विलासिता को शोधन के लिए 'विहार' कविता में व्यंग्य-शैली का उपयोग किया गया है। रवि-शशि, रात-दिन के माध्यम से अवसाद-विषाद के स्वर निकालते हैं। इस में बदला हुआ बिम्ब-विधान नये बोध का परिचय देता है—पुंस्त्वहीन वेश्या-विहार, दो लालटेन-से नयन दीन, मस्तिष्क है तेल की मशीन, पाँव हैं निष्प्राण स्तम्भ और

दो देह युक्त—
दों रिक्त प्राण व्यंग्य में गर्क।

आत्म-संशोधन की प्रकिया में तनाव की अभिव्यक्ति नाटकीय स्तर पर है, बाहर और भीतर में तनाव 'आत्म-संवाद' कविता को सृजन के धरातल पर उठाता है। मुक्तिबोध का कवि बाहर तो गति को महसूस करता है, लेकिन भीतर उदासी, विवशता, चिन्ता और शंका से घिरा हुआ है जो बाहर को टोकती हैं। इनका आमना-सामना रचना को संवाद का रूप देता है। एक तरफ यह दावा है कि मैं सत्य की व्याख्या हूँ और दूसरी तरफ यह आत्मस्वीकार की व्याख्या सदा शोधनीया है। इस है और होने में तनाव बार-बार नये-से-नये स्तर पर दोहराया गया है—

इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए—
पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए
वह मेहतर मैं हो नहीं पाता।

अन्तिम पंक्ति में मुक्तिबोध के काव्य-व्यक्तित्व और कवि-व्यक्तित्व को समेटा गया है। इस विवशता और असमंजस को बार-बार इनकी रचनाओं में आँका जा सकता है। यह इनकी कविता की धुन है। यदि वह कहीं मेहतर हो जाते या पुरानी भाषा में सिद्ध हो जाते तो शायद कविता न कर पाते और अगर वह इसे करते तो मौन की भाषा में ही कर पाते। 'व्यक्तित्व और खण्डहर' कविता में व्यक्तित्व के बिखर जाने की बात न केवल इस रचना को बिखेर देती है, तनाव को भी ढीला कर देती है। इस बिखराव को खण्डहर का नाम दिया गया है जो अपने बीते वैभव पर रो उठता है। इनके कवि की यह धारणा है कि वह बात को छोटी कविता में कह नहीं सकते, इसलिए लंबी कविता के माध्यम को अपनाना इनकी लाचारी है। 'एक आत्म-वक्तव्य' कविता में जिसे 'तार सप्तक' के पुनश्च में दिया गया है मुक्तिबोध अपनी रचना-प्रक्रिया को इस तरह कहते हैं—

खूब काट-छाँट और गहरी छील-छाल
रन्दों और वसूलों से मेरी देख-भाल,
मेरा अभिनव संशोधन अविरत
क्रमागत।

यह इनके काव्य-व्यक्तित्व और कवि-व्यक्तित्व का घोषणा-पत्र है। इसमें कवि का आत्मचेत या आत्म-सजग दृष्टिकोण उसी तरह बोलता है जिस तरह कवि ब्रेख्त का यह कथन कि मैं महसूस तब करता हूँ जब मेरा सिर दुखता है, लिखते समय कभी नहीं; उस समय मैं सोचता हूँ। मुक्तिबोध की इन पंक्तियों की तह में संशोधन की जो प्रक्रिया है उसका दोहराया जाना भी कविता का अभिन्न अंग बनकर आता है, कविता पर न होकर, कविता में है। इस निरन्तर काँट-छाँट, छील-छाल के बावजूद इनके व्यक्तित्व के दोनों पहलू अधबने, अन-बने-से रह जाते हैं। इसलिए इनकी कविता को यदि एक अधूरी कविता कहा जाए तो यह असंगत न होगा। यह कुछ कवियों की 'पूरी' कविता से शायद बेहतर इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि इस में त्रासदीय तनाव कसा हुआ और स्तर उठा हुआ है। इस में संशोधन की बात व्यक्तित्व के संस्कार और परिष्कार की भाषा में न होकर, छील-छाल और काट-छाँट की भाषा में कही गयी है और वह भी रन्दों और वसूलों से। इसलिए मुक्तिबोध कविता को कवि का आत्मीय मित्र कहते हैं जो 'उस से राह चलते-चलते बातचीत कर सके, उसकी काट-छाँट कर सके, उसकी पीठ सहला सके, उसे रास्ता दिखा सके[1]। इनका कवि 'निरन्तर खोज, सतत अन्वेषण और अनुसंधान' में आस्था इसलिए नहीं रखता कि इससे कविता एक घेरे में जकड़ी जाती है और इस घेरे से निकलना कठिन हो जाता है। यह 'नयी कविता' के साथ ही नहीं, 'किसिम-किसिम' की कविता के साथ बीता है। मुक्तिबोध का आत्म-वक्तव्य इनकी कविता की रचना-प्रक्रिया पर रोशनी डालता है। इस लिए वह इसे बार-बार दोहराने से परहेज़ नहीं करते। इस तरह 'तार सप्तक' में इनकी कविता का चेहरा थोड़ा साफ होने लगता है।

३

एक लम्बे अन्तराल के बाद मुक्तिबोध की कविताओं का पहला संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (१९६४) नाम से छप सका है और वह भी निधन के बाद। वह अपनी बेहोशी की अवस्था में इसे देख नहीं पाए। इन कविताओं का चयन भी कवि का न होकर संपादक का है, सिवाय दो कविताओं के जिन्हें वह एक-दूसरे के बाद शामिल करना चाहते थे—चम्बल की घाटियाँ और अन्धेरे में और अपनी अन्तिम कविता से 'आशंका के दीप' काट कर केवल 'अँधेरे में' रखने के लिए संपादक को मशविरा दिया था। इनकी कविताएँ लम्बी होने के कारण और शायद दुरूह होने की वजह से कभी-कभार इस अन्तराल में छुट-पुट पत्रिकाओं में छप सकी थीं। अचानक मुक्तिबोध का कवि जब पाठकों के सामने आया तो उसे इनकी शहादत से जोड़ दिया गया। यह शायद साहित्य-कारों की अपराध-भावना का परिणाम था। इनकी कविता को निराला की परम्परा में रखकर आँका जाने लगा। इस परम्परा से राजकमल चौधरी का नाम भी जोड़ दिया गया—शहादत की दृष्टि से। इस से इनकी कविता की सही पहचान धुंधली पड़ने लगी। इनके, आत्म-वक्तव्य' के बाद जिसे 'तार सप्तक' के दूसरे संस्करण में दिया गया है, इनकी कविता की अधूरी पहचान इस संकलन को कविताओं के आधार पर करना आवश्यक हो गया है और अधूरी इसलिए कि इनकी 'सैंकड़ों कविताएँ जो अधूरी हैं' अभी पाठकों के सामने नहीं आ सकीं हैं। मुक्तिबोध अपने कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व को अलगाने वाले नहीं थे, 'जिन्दगी के एक-एक स्नायु के तनाव कोर एक बार' जीवन में और दूसरी बार अपनी कविताओं में जीते थे। इनकी कविता को आलोचकों ने अपनी-अपनी निगाह से पहचानने की कोशिश की है—कभी इसे रहस्य-लोक के आधार पर तो कभी संगति विरोध के आधार पर, कभी बिम्ब-प्रतीक विधान की दृष्टि से तो कभी फैंटेसी की दृष्टि से, कभी आत्म-संशोधन के स्तर पर तो कभी आत्म-निर्वासन के स्तर पर। इस तरह इनकी कविता को कभी सरल कहा गया है तो कभी जटिल, कभी सपाट तो कभी घनी, कभी तरल तो कभी ठोस। यह कभी 'रहस्य' को लिए हुए है तो कभी वास्तव को, कभी छायावादी संस्कारों को तो कभी इस से छुटकारा पाने की छटपटाहट को, कभी आधुनिकता को तो कभी परम्परा को। यह समकालीन होने के कारण रसवादी पाठकों के लिए उसी तरह कविता भी नहीं है, जिस तरह निराला का 'कुकुरमुत्ता' जिसे महादेवी ने निराला के चाहते हुए भी एक संपादक के नाते इसे 'अपरा' में शामिल करने से इन्कार कर दिया था। 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' के सम्पादक ने यह शायद इसलिए नहीं किया कि युग-बोध बदल चुका था। मुक्तिबोध की कविता की पहचान आधुनिक बोध के पनपने पर होने लगी है। इनकी कविता का 'अन्दाज़ और बयान' और है जिसे दोहराया नहीं जा सकता और इसके बावजूद इन्हें कवियों का कवि कहा गया है। इनकी कविताओं में अनेक स्वर हैं—दहशत का है, त्रास का है, खौफ का है, घृणा स्नेह का है, अकेलेपन का है, साथीपन का है, टूटने और जुड़ने का है। इसी तरह इनकी कविता में मानसिक तड़पन, अकुलाहट और छटपटाहट है, है और होने में तनाव है, सादगी और टेढ़ापन है, सरल्ता और जटिलता है, आस्था और अनास्था है, शंका और विश्वास है। इसका न तो सरलीकरण हो

१. क्ष त्र ज्ञ (छोटी पत्रिका) जनवरी १९६९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है और न ही सामान्यीकरण और यदि किया गया है तो कविता से दूर और अपने निकट होकर। इसे न तो कवि की शहादत से जोड़कर आकाश में उठाया जा सकता है और न ही दुरूहता का सहारा लेकर पाताल में गिराया जा सकता है। नामवर सिंह का यह कथन सरलीकरण का परिणाम ही कहा जा सकता है—निराला और मुक्तिबोध ने अपनी बलि देकर कविता को बचा लिया और पंत तथा अज्ञेय ने अपने को बचा लिया; लेकिन कविता की बलि दे दी। और ब्रेख्त ने दोनोंको बचा लिया; राजकमल ने दोनों की बलि दे दी।

इसलिए कविता की पहचान कविता के आधार पर करना अधिक जान पड़ता है। यह 'क्या, और कैसे और किस तरह' की बुनियादी बात पर बार-बार बल देना आवश्यक जान पड़ता है। अपनी कविता के बारे में कवि की निजी धारणाएँ इसे पहचानने में एक हद तक तो मदद कर सकती है, लेकिन इसके मूल्यांकन का आधार नहीं बन सकी है। इसकी वजह यह है कि कभी-कभी कवि की बात कविता में उतरने के बजाय या अधूरे रूप में उतरने के बजाय कवि के मन में ही धरी रह जाती है जिस तरह आनन्दवाद की बात 'कामायानी' **में** न होकर 'कामयानी' **पर** है जो इसे असफल कृति बना डालती है। यह सही है कि मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं को खूब तराशा है, बार-बार इनकी 'काट-छाँट और छील-छाल' की है और कभी-कभी इतनी की है कि कविता कुछ और बन गयी है, वह नहीं रही जो पहले कवि के मन में थी। इसी तरह इनकी कविता कभी-कभी सतह पर **और** होती है और तह **में कुछ और,** सतह पर **रहस्यमयी,** लगती है और तह में **वास्तवमयी,** सतह पर **तरल** लगती है और तह में **ठोस** होने की गवाही देती है। कवि अपनी बात को लंबी कविताओं में कहना इसलिए बेहतर समझते हैं कि इनमें जटिल वास्तव को समेटने की अधिक संभावना होती है; गतिशील वास्तव छोटी कविताओं की पकड़ में आने से इन्कार करता है, छोटी कविता छोटी न होकर अधूरी हो जाती है, लेकिन लंबी कविता कभी-कभी टूटने का खतरा भी मोल ले लेती है जिसे लेने के लिए मुक्तिबोध का कवि तैयार भी हो जाता है। इन्होंने अनेक छोटी कविताएँ अधूरी लिखकर छोड़ दी हैं। जब तक ये छपकर सामने नहीं आतीं तब तक कवि की राय को मान लेना संगत नहीं जान पड़ता।

४

मुक्तिबोध के इस संकलन में कविताएँ छोटी भी हैं और लंबी भी—'मूल गलती' 'पता नहीं' 'मुझे कदम-कदम पर' 'मुझे नहीं मालूम' 'मेरे लोग' 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' 'कल जो हमने चर्चा की थी' 'एक अरूप शून्य के प्रति' 'नक्षत्र खण्ड' आदि इनके माप से छोटी कही जा सकती हैं और 'ब्रह्म राक्षस' 'डूबता चाँद कल डूबेगा' 'मुझे याद आते हैं, 'चकमक की चिनगारियाँ' 'एक अन्तर्कथा' 'शून्य' 'एक स्वप्न-कथा' 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' 'चम्बल की घाटी में' 'अँधेरे में' आदि लम्बी रचनाएँ हैं 'जिनमें वास्तव की जटिलता को या जटिल की वास्तविकता को पकड़ने की कोशिश है। 'पता नहीं' एक छोटी कविता है जिसमें बरगद की छाया के फैलाने की बात है और बरगद के बिम्ब को कवि ने अनेक बार अपनी रचनाओं में दोहराया है बिम्ब यह। शायद मानव के हाथ में मानव के हाथ का संकेत देता है, मानवीय संवेदना को इंगित करता है। शमशेर ने इसे अपनी काव्यात्मक भाषा में बयान किया है—(मुक्तिबोध) एकान्त खोजता हुआ नहीं, साथियों, गरीब-फटेहाल, भूखे और मुस्कराते चेहरों के बीच जोर से ठहाका लगाकर उनमें रिल-मिल जाता हुआ[1]' आम तौर पर इनकी तुलना पीपल और बरगद के पेड़ सेकी जाती है और कवि ने अपनी रचनाओं में इनके संकेत भी दिए हैं; लेकिन शमशेर इनकी तुलना चट्टान से करते हुए लिखते हैं—'शिलाओं पर शिलाएँ। झरने कहीं बिरले ही। केवल गहरी बावलियाँ, सूखे कुएँ, झाड़-झंखाड़, अनन्त पगडण्डियाँ, जैसे मालवा के पठार और मध्य प्रदेश की ऊबड़-खाबड़ धरती—और धरती के आतंकमय, रहस्यमय इतिहास—और इनके बीच लहू-लुहान मानव[2]।'यह मुक्तिबोध का विस्तृत फलक है जिसे कविता की भाषा में कहा गया है और जिस पर मुक्ति बोध ने अपनी कविता को उतारा है। इनकी कविता

१. चांद का मुंह टेढ़ा है—पृ०२०
२. चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृ० २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरे-पूरे की खोज के लिए एक लंबे सफर पर निकल पड़ती है—

> **आत्मीय एक छवि तुम्हें नित्य भटकायेगी**
> **जिस जगह, जहाँ जो छोर मिले**
> **ले जायेगी**

···पता नहीं, कब, कौन, कहाँ, किस ओर मिले एक ओर छोटी कविता में (मुझे कदम-कदम पर) लेखक की समस्या को कामदीय स्तर पर उठाया गया है। इसमें भाषा बोल-चाल की है, ठेठ है। लेखक की समस्या विषयों की कमी की इतनी नहीं है जितनी इनके चयन की है जितनी इनको निभाने की होती है) । इसकी वजह को इन बिम्बों और प्रतीकों में बयान किया गया है जिसका अन्दाज़ कवि का अपना है—

> **मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में**
> **चमकता हीरा है**
> **हर एक छाती में आत्मा अधीरा है,**
> **प्रत्येक सुस्मिति में विमल सदा नीरा है,**
> **मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में**
> **महा-काव्य पीड़ा है,**
> **पल-भर में सबसे गुजरना चाहता हूँ,**
> **प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूँ**
> **इस तरह खुद ही को दिये-दिये फिरता हूँ,**
> **अजीब है जिन्दगी**

इस कविता में कवि एक पैर रखता है और सौ राहें फूटती हैं और वह उन सबसे गुजरने की विकलता में थोड़ा गहरे में उतरना चाहता है जहाँ उसे शायद कुछ कहने को मिल जाए। अपने से बाहर आने की कोशिश में वह अपने से अलग होकर तटस्थ होना चाहता है और यह एक तरह कवि-व्यक्तित्व का संशोधन है। वह जीवनके गहरे में उतर कर कहानी को उपन्यास में बदल देना चाहता है और कविता के संसार में यह छोटी कविता को लम्बी में बदलना कहा जा सकता है। इस संशोधन की प्रक्रिया का सजीव चित्रण 'मुझे याद आते हैं' कविता में हुआ है। कैसे एक स्याह पहाड़ जीवन वास्तव का भयंकर संकेत देता है, किस तरह कवि अपने गहरे अकेलेपन से निकलकर बाहर के अभाव-घिरे जीवन का सामना करता है—इसे एक-एक चित्र में कहने की कोशिश कविता के स्तर को उठा देती है। एक तरफ नगर का महाकार मुसकराता व्यक्तित्व है, जहाँ चहचहाती सड़कों की साड़ियाँ हैं, 'सफेद अथवा गुलाबी पावडर में छिपे सभ्यता के चेहरे पर बड़े-बड़े चेचक के दाग हैं, संस्कृति एक सूखा हुआ रोगीला पंजर है, (इशारा पूंजीवादी संस्कृति की तरफ है) और दूसरी तरफ शोषित जीवन का चित्रण है जिससे कवि स्वयं को जोड़ना चाहता है। इस तनाव में कविता का राज खुलने लगता है। यह चित्र उस नारी के माध्यम से उतारा गया है जो पेट में संतान को लिए हुए है, 'उर में दर्द को सँभाले हुए है, वजनदार घड़ों से पानी भरती है, भाड़-भाड़ कपड़े धोती है, मजदूरी करती है ताकि उसकी संतान का भविष्य उज्जवल हो सके।' यहाँ आकर कवि का धीरज टूटने लगता है और वह पूछ बैठता है कि उसके अवसाद भरे दुबले मुख पर कौन-सी धोके-भरी आशा है या आशा की दृढ़ता है। इस चेहरे और पन्त की ग्राम-युवती के चेहरे में भारी अन्तर को आँकना कठिन नहीं है। एक और चित्र शोषित जीवन का उतारा गया है जिसे आँक कर काव्य-नामक में 'असह्य-सा आत्म-बोध और जगत-बोध या विश्व-बोध' जागता है। यह चित्र पटेल बाबा का है जो धँधलके में खोये रास्ते पर सामने आता हैं। इस तरह कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्ति का एक साथ रूपांतरण और संशोधन होता है। अब पहले की तरह वह निस्सहाय अनुभव नहीं करते और इस जीवन से जुड़ने की गवाही देते हैं—

> **मौलिक जल-धारा मेरे वक्ष का शैल-गर्भ**
> **धोती ही रहती है।**

कविता के अन्त में घर का दरवाज़ा खटखटाने पर और 'आई' की आवाज़ सुनने के बाद वह अपने उर का द्वार खटखटा कर उसमें संकल्प को भर लेते हैं। इस तरह संशोधन की प्रक्रिया इस कविता में पूरी होकर भी आने वाली कविताओं के लिए अधूरी बन जाती है और यह इसकी निरन्तरता है। यह प्रक्रिया 'मुझे नहीं मालूम' कविता में विज्ञान की भाषा में शुरू हो जाती है जिसमें ऋतु और सच की खोज मूल-गलती के माध्यम से होने लगती है। एक तरह सच की थाह को पाने की बात और दूसरी तरफ 'अगम अथाह की सिन्धु-यात्रा' की मनाही—इनमें अन-बन, पहले से बनी राहों पर घूमने की आदत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी तरह पड़ जाती है जिस तरह धरती और सितारे निजी व्यक्तित्व रखते हुए भी लीक पर ही चल सकते हैं, इधर-उधर घूम नहीं सकते। प्रकृति का ऋत होता है और मानव का सत्य जिसे पाने की लालसा जगमगाती रहती है। इसमें तनाव की स्थिति चिन्तन-मनन के स्तर पर है; लेकिन 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' कविता में तनाव संवेदना के स्तर पर होकर इसे सृजनात्मक रूप देता है—'इसलिए जो है उससे बेहतर चाहिए' की बात एक तरफ और 'वह मेहतर मैं हो नहीं पाता' की बात दूसरी तरफ तनाव को कसता है। इस तरह 'है और होने की स्थिति' में तनाव बना रहता है। कवि अपने को लोगों से दूर महसूस करने लगता है। यह अकेलापन अस्तित्ववादी मुद्रा को लिए हुए नहीं है जब कविता के अन्त में कवि स्वयं को इस हालत में पाता है—

मैं कनफटा हूँ हेठा हूँ
शेव्रलेट-डाज के नीचे लेटा हूँ
तेलिया-लिबास में पुरजे सुधारता हूँ
तुम्हारी आज्ञाएँ ढोता हूँ

लेकिन अपने से बाहर निकल कर वह चीखने लगता है—

रिफ्रिजिरेटरों, विटेमिनों, रेडियोग्रामोंके बाहर की
गतियों की दुनिया में
मेरी वह भूखी बच्ची मुनिया है शून्यों में
पेटों की आँतों में न्यूनों की पीड़ा है
छाती के कोषों में रहितों की व्रीड़ा है

इस तरह की कविताओं को आधार बनाकर इनकी कविता को रहस्यवादी जामा पहनाना तो कठिन है; लेकिन एक और छोटी कविता 'कल जो हमने चर्चा की थी' को आधार बनाकर डॉ० राम विलास ने यह स्थापित करना चाहा है कि इसमें रहस्यवाद है। अगर है तो इसका निषेध करना गलत होगा; लेकिन अगर नहीं है तो इसे स्थापित करना भी उतना ही गलत है। इसमें मुक्तिबोध का कवि और शायद व्यक्ति भी किसी मित्र के साथ ज्वालामुखियों के भीतर पैठने और लावा के उद्‌गम तक पहुँचने की बात करते हैं। यह मित्र एक पोलिश महिला है जिसका नाम अग्नेशका है। यह सूचना आलोचक को कवि शमशेर से मिली है। यह बात खास मतलब नहीं रखती। अग्नेशका का मतलब सूर्यकन्या है, जिससे मुक्तिबोध ने बातें की थीं और वह इनके रहस्यवादी स्वप्न में घुलमिल गयी। यह बात मतलब की है। इसे कवि ने ऐतिहासिक अनुभूति से जोड़ कर कीमिया और जादू कहा है जो मनुष्य के सम्बन्ध को सूरज के विस्फोटकारी केन्द्र से जोड़ता है। इस अनुभूति से मनुष्य के आयाम असीम हो जाते हैं, उसका दिक् और काल अनन्त हो जाता है। इस कविता की भाषा भी हठयोग की है—इड़ा, पिंगला, कुण्डलिनी और कमलिनी की है। इस भाषा से भी रहस्यवाद की गवाही मिल जाती है। क्या इसमें रहस्यलोक का चित्रण कबीर की उलटबासियों की तरह है? क्या इड़ा-पिंगला का उपयोग इनके हठयोगी मायनों में हुआ है? क्या इस कविता में रहस्यलोक शाब्दिक स्तर पर है? अभी तक इन सवालों का जवाब पूरी तरह नहीं दिया गया है। इसमें संदेह नहीं है कि कविता में सारे संकेत रहस्यलोक की तरफ ले जाते हैं; लेकिन इसे रहस्यवादी साबित करने के लिए यह कहना कि 'मुक्तिबोध बाहर की दुनिया में जितनी मार खाते हैं उतना ही उनका जादू-प्रेमी, भावुक और भोला मन रहस्यवाद की तरफ तेजी से दौड़ता है, एक वकील के लिए दलील जो हो सकती है; लेकिन जज का फैसला नहीं बन सकती। क्या इनकी कविता बाहर से मार खाने का परिणाम नहीं है? क्या सब कविताओं में रहस्यवाद की तरफ दौड़ने की गवाही मिलती है? इसलिए जब यह गवाही नहीं मिलती तो इनके रहस्यवाद को प्रसाद पन्त अज्ञेय के रहस्यवाद से यह कहकर अलगाया गया है कि उनकी कविता में आनन्द है और इनकी कविता में दुख है, मुक्तिबोध के कवि का मन आनन्द के बजाय अँधेरे से घिरा हुआ है। यदि आनन्द के साथ आलोक जोड़ दिया जाए तो शायद बेहतर हो। इस रहस्यवाद के बारे में एक और दलील दी गयी है। मर्क्सवाद पूरे ज्ञान का दावा नहीं करता और मुक्तिबोध इससे उकता गए थे। यह सतत विकासमान है। रहस्यवाद ही पूरा ज्ञान दे सकता है। अपने दिक् और काल को असीम-अनन्त बनाने के लिए जादू से ही काम लिया जा सकता है। क्या इसका मतलब यह हुआ कि मुक्तिबोध का चिन्तन मध्यकालीन है जिसके अनुसार सत्य शाश्वत या चरम होता है या दिक् और काल असीम—अनन्त होते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इसकी अभिव्यक्ति छायावाद में तो मिलती है। वह चाहे समरसता को लेकर हो या चिर सुन्दर को लेकर, अरविन्दवाद को लेकर हो या शक्ति की पूजा को लेकर। छायावाद में मध्यकालीनता और आधुनिकता का समन्वय हुआ है—एक तरफ शाश्वत की बात और दूसरी तरफ इसे तोड़ने की बात। 'छायावाद' में अनेक असंगतियाँ हैं। इसका एक कारण शायद यह हो सकता है कि छायावाद में कभी तो आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारा गया है और कभी इसे नकारा गया है और मध्यकालीनता और आधुनिकता में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास भी किया गया है[1]। क्या मुक्तिबोध की इस तरह की कविता में छायावाद का अवशेष है? क्या इसमें सामंजस्य की स्थिति है या तनाव की? इस कविता से तो रहस्यवाद या छायावाद के अवशेष की ध्वनि निकलती है जब यह कहा गया है कि 'भैरवी राग को सुनते हुए काल का चरणो रुक गया था[2]। क्या यह मन की मुक्त दशा नहीं ह सकती जिसमें कभी-कभी दिक और काल का भान नहीं रहता? मुक्तिबोध की कुछ रचनाओं का काव्य-रूप फैंटेसी है और इसे ठोस धरातल पर स्वीकारने से उसकी तह में छिपी वास्तविकता आँखों से ओझल भी हो सकती है। मुक्तिबोध ने भी 'कामयानी' के बारे में यह भूल की है जब इसमें सारे सारस्वत समाज को कैलास पर ले जाने की बात को उसके ठोस रूप में स्वीकार किया है। यदि काल के चरण के रुक जाने की बात मन की मुक्त-दशा का संकेत देने से रह जाती है तो इस कविता को इनकी कविता का विषम स्वर ही कहना पड़ेगा, मूल स्वर तो और ही है जब वह बाहर से मार खा कर बाहर से डटने की गवाही बार-बार अपनी कविताओं में देते हैं—

> वह जहाज
> क्षोभ विद्रोह भरे संगठित समाज का
> साहसी समाज है।।
> भीतर वह बाहर के पूरे दलिद्दर से
> मुक्ति की तलाश में
> आगामी कल नहीं, आगत वह आज है
> —एक स्वप्न-कथा

१. मदान : कविता और कविता, पृ० १२
२. चांद का मुंह टेढ़ा है, पृ० ११५

यह हो सकता है कि सामाजिक मुक्ति का रास्ता एक हो और वैयक्तिक मुक्ति का दूसरा; लेकिन मुक्तिबोध का कवि-व्यक्तित्व इस विभाजित व्यक्तित्व की गवाही निराला के विभाजित व्यक्तित्व की तरह नहीं देता जो अहं और इदं में डोलता रहा। इस तरह तो महादेवी के कवि और गद्यकार में गहरा पाट सतह पर नज़र आता है; लेकिन गहरे में शायद यह न दिखे अगर असीम-ससीम, कीर-पिंजर आदि प्रतीकों की शाब्दिक व्याख्या न की जाए। महादेवी ने जहाँ उपनिषदों की भाषा का उपयोग किया है, मुक्तिबोध ने वहाँ हठयोग की भाषा का। यह सही है कि मुक्तिबोध ने युग आदि के चिन्तन का गहरा मन्थन किया है; लेकिन यह कहाँ तक इनकी कविता में आ सका है, कहाँ तक इसमें रहस्य-लोक, इस चिन्तन का परिणाम या हठयोगी मनन का है—इसे अभी पूरी तरह खुलना है। क्या इसके भीतर वास्तविकता झाँकती है? रहस्य मात्र से कविता न तो बनती है और न ही बिगड़ती है, 'कल जो हमने चर्चा की थी' बनने से रह जाती है। पक्तिबोध का यह कहना था कि वास्तव अपनी कलात्मक मुरिणति में फैंटेसी में बदल जाता है। इसलिए इनका कवि भयानक वास्तव का सामना या साक्षात्कार फैंटेसी के माध्यम से उसी तरह करता है जिस तरह काफ्का का लेखक भोंगे के माध्यम से एक कहानी में करता है और 'गढ़' या 'महल' के माध्यम से इस नाम के उपन्यास में। मुक्तिबोध की यह धारणा सही है या गलत; लेकिन हर लेखक को माध्यम के चयन का अधिकार है।

५

मुक्तिबोध ने यदि अपनी बात कहने के लिए फैंटेसी का चयन किया है तो इसका सही-गलत होना इनकी लम्बी कविताओं के आधार पर परखा जा सकता है। इनमें कुछ कम लम्बी हैं और कुछ अधिक लम्बी, लेकिन लम्बी सब हैं—'ब्रह्म राक्षस' 'दिमागी गुहान्धकार' 'ओरांग उटांग' 'लकड़ी का बना रावण' 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' 'एक अरूप शून्य के प्रति, 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' 'नक्षत्र-खण्ड' 'चकमक की चिनगारियाँ' 'एक स्वप्न कथा' 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' 'चम्बल की घाटी में' और अन्तिम, कवि की भी और काव्य-संकलन की भी 'अँधेरे में' जिसे पहले 'आशंका के दीपः अँधेरे में' नाम दिया गया था। एक आलोचक की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह राय है कि इनकी कविता की पहचान के लिए दो लम्बी कविताओं को आधार बनाया जा सकता है—'ब्रह्म राक्षस' और 'अँधेरे में'। इतने से तो शायद काम न चले; लेकिन इन दो कविताओं के महत्व के बारे में संदेह नहीं है। और भी हैं जो इनके बराबर रखी जा सकती हैं। इन में भी कवि जीवन के सत्य को पाने के लिए छटपटाते हैं और कभी-कभी इसके बारे में संदेह भी करने लगते हैं कि इसे पाया भी जा सकता है या नहीं: पुराने सत्य को खोया अवश्य है। वह झूठ को भी जीवन का सच मानकर यह महसूस करने लगते हैं कि इसे भी कविता में पूरी तरह नहीं कहा गया है[1]। कुबेरनाथ राय 'ब्रह्म राक्षस' की राह से गुजरे हैं और वह इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अन्य कविताओं में तो चेतन-उपचेतन के अनुभवों की यात्राएँ हैं, इसमें बौद्धिक सचेत स्तर पर रहस्य के नकाब में अनुभवों का जलूस है। वह इस कविता को एक 'समृद्ध रचना' भी इसलिए मानते हैं कि इसमें बिम्ब-विधान (चित्र-बिम्ब और ध्वनि-बिम्ब) की नवीनता है, रूप-योजना की सफलता है और विचारों की स्वतन्त्रता के हिसाब से भी यह सम्पन्न है। इस तरह कुल मिलाकर 'ब्रह्म राक्षस' का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। यह कविता पहले-दूसरे पाठ पर बड़ी सकील लगती है, इसे हजम करने के लिए जुगाली करनी पड़ती है, जिसकी आदत कविता के पाठक को बहुत कम है। कुबेरनाथ राय ने जुगाली की है। इसलिए इससे बेहतर पहचान किसी और ने अभी तक नहीं दी है। ब्रह्म राक्षस कौन है? वह बावड़ी में कैद क्यों है? बावड़ी क्या है? उसके आस-पास क्या है? उसका मतलब क्या है? ब्रह्म राक्षस अकेले रहने के लिए अभिशप्त क्यों है? वह बावड़ी में निरन्तर नहाने में क्यों लगा रहता है? इस अखण्ड स्नान या मल-शोधन का मतलब क्या है? इतना करने पर मैल फिर क्यों बनी रहती है? इसके अलावा वह लगातार सोचता क्यों रहता है? पुराने चिन्तन की उपलब्धियों का वह फिर से संस्कार करने का आशय क्या है? उसकी संवेदना स्याह क्यों है? बाहरी और भीतरी त्रासदी के दो पाटों में वह पिस किस लिए गया है? इस दो तरह की त्रासदी के मायने क्या हैं? काव्य-नायक ब्रह्म राक्षस का 'सजल-उर-शिष्य' क्यों होना चाहता है? (जो हो नहीं पाता) वह पहले उससे भय क्यों खाता है और बाद में उससे संवेदना क्यों और कैसे है। कविता के पहले अंश में उससे भय और दूसरे अंश में उससे संवेदना आन्तरिक विरोध या तनाव को लिए हुए है जो शायद इस कविता के सृजन के मूल में है। इन सवालों से इस कविता के चेहरे को घूरा ही जा सकता है, इसे पकड़ने के लिए इनके जवाब देने हैं। कुबेरनाथ ने कविता की राह से गुजर कर इनके जवाब देने की कोशिश की है। इस कविता के चेहरे को पकड़ने से मुक्तिबोध की कविता का चेहरा पूरी तरह उतरने वाला भी नहीं है।

कविता शुरू होती है एक सूनी बावड़ी से जो शहर के खण्डहर के पास है। उसमें जल की गहराइयाँ हैं, अनेक सीढ़ियाँ जल में डूबी हैं। इसके बाद गहरी बात का संकेत है जिसका आधार समझ में नहीं आ रहा है। इस बावड़ी को उलझी डालें घेरे हुए हैं। मौन पेड़ों की शाखों पर घोंसले लटके हुए हैं, जो खाली हैं। विगत पुण्य का आभास हवा में तैर कर 'गहन सन्देह' बन जाता है और यह दिल में खटका-सा लगा देता है। बावड़ी का मुँह खुला है और वह आकाश को ताकता है। इसमें एक ब्रह्म राक्षस कैद है जो पागल की तरह बड़बड़ाता है। वह अपनी मैल धो रहा है—

> **पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन रात**
> **स्वच्छ करने—**
> **ब्रह्म राक्षस**
> **घिस रहा है देह**
> **हाथ के पंजे, बराबर**
> **बाँह-छाती-मुँह छपाछप**
> **खूब करते साफ,**
> **फिर भी मैल**
> **फिर भी मैल।।**

उसकी मस्तक की लकीरें आलोचनाओं के चमकते तार बुन रही हैं, उसकी संवेदना स्याह है। सूरज का नमस्कार और चाँदनी की वन्दना करना यह बताता है कि वह 'ज्ञान का गुरु' है। वह वैदिक काल से लेकर गाँधी तक के वचनों की नयी व्याख्या करता रहता है। शब्द का

१. क्ष त्र ज्ञ जनवरी १९६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द से लड़ना, ध्वनि का ध्वनि को काटना, कृति को विकृत कर रहा है। काव्य-नायक उस त्रासदी को सुन रहा है जो बावड़ी में अड़ गयी है। अब एक साँवला ज़ीना है जिस पर अँधेरी सीढ़ियाँ हैं जो 'निराले लोक' को जाती हैं। उसका चढ़ना, उतरना, लुढ़कना सिसिफस की याद एक दूसरे स्वर से दिलाता है। इस निराले लोक में पहुँचना कब आसान है। इसे पाने की जूझ में एक शोधक मारा गया है (गुलफाम)। वह गुरु को पाने के लिए भटका है सब पण्डितों और चिन्तकों के पास; लेकिन 'व्यक्तित्व' की सीढ़ियाँ अकेले चढ़ना बहुत मुश्किल रहा है। पूंजीवादी युग आ गया है। वह आत्मचेत है, लेकिन बाहर-भीतर के आन्तरिक विरोध उसे 'उससे' मिलने नहीं देते, वरना वह उसे उसका अपना राज़ खोल सकता था। अब वह दो पाटों में पिस गया है। वह झाड़ी के काँटेदार अँधियारे विवर में मरे पंछी की तरह विदा हो गया है और अनजाना आलोक खो गया है। ऐसा क्यों हो गया है? काव्य-नायक क्या होना चाहता है?—

मैं ब्रह्म राक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य
उसकी वेदना का स्रोत
संगतपूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुंचा सकूं।

इस कविता का विधान फैंटेसी का है जो कुबेरनाथ को अलंकार-विधान सी लगती है। अन्त तक रहस्यमयता बनी नहीं रहती। एक बिम्ब से दूसरे बिम्ब पर कूद इसे तोड़ती है। कवि संयम में न रह कर बिम्ब बदलने से पहले बात को खोल कर रखते जाते हैं। वह मतलब समझाने से बाज़ नहीं आते और वह इसे कवि का हक समझते हैं। इसलिए कुबेरनाथ फैंटेसी से मुक्तिबोध के सम्बन्ध को बादरायण कहते हैं। ब्रह्म राक्षस आदिम बिम्ब है, अतीत की बौद्धिक चेतना का प्रतीक है, कवि का भोगा हुआ आत्म है जो उपचेतन की संकुलता में कैद है—इसके बारे में आलोचक ने विस्तार से मनोविश्लेषण की भाषा में व्याख्या की है[1]। वह इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वह 'अन्वीक्षा' का प्रतीक या प्रेत है जो क्रुद्ध और अभिशप्त है। इसका संशोधन बावड़ी या इतिहास-मन में हो रहा है भय, सन्देह, खतरे और अभिशाप के वातावरण में। उसकी संवेदना स्याह इसलिए है कि इसे शाप लगा हुआ है। कवि जब उसकी आवाज़ को सुनकर उसके अतीत का पता लगाता है तो वह अपने व्यक्तित्व के भीतर के ज़ीने पर चढ़ने के लिए जूझता है। वह इस संशोधन के युद्ध या गणित में मारा जाता है। वह इतिहास-मन के अवचेतन में ब्रह्म राक्षस बन कर कैद हो गया है। उसकी असफलता 'भव्य' है, अन्वीक्षा-शाप के वाहक को 'भव्य' असफलता का मुंह ही ताकना पड़ता है। इस तरह कविता में कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व के संशोधन की प्रक्रिया है जो जारी है। इस संशोधन में यह आस्था बनी रहती है, एक दिन वह सत्य का खोजी 'सजल-उर' होकर रहेगा, वेदना के मूल को खोज कर उसके आधे-अधूरे को पूरा कर सकेगा। यह किस तरह पूरा होगा, हो सकेगा या नहीं? इस कविता में 'सजल उर' सजलता, समवेदना, सहजता आदि का संकेत देता है। यह इस तरह पूरा होगा या किसी और तरह; पूरा भी होगा या नहीं—इसके बारे में कवि के मत से सहमत या असहमत होना इतना मतलब नहीं रखता जितना कविता से। इस कविता से सहमत होना पड़ता है। इसमें ओरांगटांग वह जानवर है जो इन्सान के अचेतन में बन्द रहता है इस कविता में वह एक सन्दूक में बन्द है जो मजबूत और भारी-भरकम है। यह यक्ष है या ओरांग-उटांग है। वह जब भीतर से हुंकारता है तो कवि का नंगा मन एकाएक डर जाता है। वह महसूस करने लगता है—

स्वयं की ग्रीवा पर
फेरता हूं हाथ कि
करता हूं महसूस
एकाएक गरदन पर उगी हुई
सघन अयाल और
शब्दों पर उगे हुए बाल तथा
वाक्यों में ओरांग…उटांग के
बढ़े हुए नाखून

इसके बाद पूंछ सहसा कविता बनती है, बड़े-बड़े दांत दलीलें बनते हैं। इस तरह अपनी बालदार सज़ से और कपाल

१. क्ष त्र ज्ञ-ब्रह्मराक्षस और विस्तार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की धज से घिर कर वह सन्दूक को बन्द कर देते हैं। इन्सान में छिपा हुआ हैवान थोड़े समय के लिए बाहर आता है और यह बोध करा जाता है कि डारविन के अनुसार बन्दर से जो इन्सान बना है, इस विकास में पूंछ का लोप नहीं हो पाया है, वह बाहर से गायब होकर भीतर चली गयी है। आदमी को पहला झटका तब लगा जब उसे यह बताया गया कि सूरज धरती के चारों ओर नहीं घूमता, धरती सूरज के चारों ओर घूमती है, वह संसार के केन्द्र में नहीं है; उसे दूसरा झटका तब लगा जब उसे यह कहा गया कि वह बन्दर से विकसित हुआ है, आसमान से इसी रूप में नहीं टपका है और तीसरा झटका उसे तब लगा जब उसे यह पता चला कि उसके भीतर या अचेतन में जानवर छिपा रहता है जो इससे बहुत-कुछ करवाता है। इस कविता के अन्त में

और मेरी आँखें उन बहस करने वालों के
कपड़ों में छिपी हुई
सघन रहस्यमय लम्बी पूँछ देखती !
और मैं सोचता हूँ···
कैसे सत्य हैं—
टांक रखना चाहते हैं बड़े-बड़े
नाखून !!
किसके लिए हैं वे बाघनख !!
कौन अभागा वह !!

इस तरह कवि फैंटेसी के माध्यम से जिसे वह अपने अनुरोध से, अपना मतलब बताने के लिए तोड़ कर कविता के अन्त में सवाल से जवाब देते हैं। जब तक यह सघन लम्बी पूंछ बहस करने वालों के कपड़ों में छिपी हुई है तब तक इन्सान अभागा है, उसकी नियति अभिशप्त है। इसका अहसास शायद व्यक्तित्व का संशोधन का काम करेगा और यह प्रक्रिया मुक्तिबोध की कविताओं में जारी है जो इनको एक बनाती है। इस तरह इनका अति सचेत कवि फैंटेसी का जाल बड़ी खूबसूरती से बुनता और काटता भी रहता है ताकि इसका मतलब साफ़ होता रहे। 'लकड़ी का बना रावण' कविता में जिस कचोटने वाली अनुभूति को कहने की कोशिश है वह काव्य नायक के अपने हलचली परिवेश से कट जाने की है और जिसे डॉ० रामविलास चाहें तो आस्तित्ववादी चोला पहना सकते हैं और डॉ० नामवरसिंह मार्क्सवादी जामा, आत्म-ग्रस्ता के नाम पर और आत्म-निर्वासन के नाम पर। अकेलापन दोनों वादों में हो सकता है। यह छायावाद में भी होता है, लेकिन इन वादों के संदर्भ अपने-अपने होते हैं। कविता-नायक महसूस करने लगता है कि वह एक रावण की तरह है जो बाँस और कागज़ का बना हुआ है। वह शिखिर पर सब तरफ अकेला खड़ा है, दानव और देव का पुतला है (आन्तरिक विरोध या तनाव की स्थिति में है), अपने मोह से घिरा हुआ है जिसका बोध उसे कचोटता है (अपराध भावना डॉ० राम विलास की दृष्टि में)। इस कचोट में आत्म-संशोधन की प्रक्रिया है, कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व दोनों के रूपांतरण के लिए। कविता के अन्त में—

हाय ! हाय,
उग्रतर हो रहा चेहरों का समुदाय
और कि भाग नहीं पाता मैं
हिल नहीं पाता हूँ
मैं मन्त्र-कीलित-सा, भूमि में गड़ा-सा
जड़ खड़ा हूँ
अब गिरा, तब गिरा
इसी पल कि उसी पल

इस सन्दर्भ से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसमें अकेलापन का बोध किस तरह के चिन्तन का परिणाम है या किस वाद से जोड़ा जा सकता है।

मुक्तिबोध की एक लम्बीकवि ता 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' में समकालीन का चित्रण चाँद और चाँदनी के माध्यम से किया गया है और यह चाँद और चाँदनी गिरिजा-कुमार के कवि की न होकर, छायावादी कवि की न होकर एक समकालीन कवि की है जिसके बारे में बोध बदल चुका है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि गिरिजा कुमार की चाँदनी में कविता नहीं है; लेकिन अब वह कुँवारी नहीं रही, उसके मुख पर चेचक के दाग नज़र आने लगे हैं। मुक्तिबोध की कविता में चाँद का मुंह टेढ़ा हो गया है। यह टेढ़ा क्यों हो गया है ? यह चाँद सन् तिरपन का है जिसे काला और भयानक कहा गया है। आसमान में करफ्यू लगा हुआ है और धरती पर सन्नाटा है, 'चुपचाप ज़हरीली छिः थूः है।' चाँद का सिर गंजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और उसकी किरणों के जासूस नगर के कानों में छिप कर ताक लगाए बैठे हैं। बार-बार जिस रंग का संकेत इस कविता में दिया गया है वह साँवलेपन, कालेपन का है। यहाँ तक कि उजाला भी उजाला नहीं है, भुसभुसा है—

बारह का वक्त है,
भुसेभुसे उजाले का फुसफुसाता षड्यन्त्र
शहर में चारों ओर,
ज़माना भी सख्त है।

इस 'सख्त ज़माने' का चित्रण जिस आवेगात्मक रूप में किया गया है, जिन बिम्बों और संकेतों के माध्यम से इसे उजागर किया गया है, 'जैसे और जिस तरह' किया गया है, इनके आधार पर इस कविता को एक सफल रचना कहना असंगत न होगा। इस में बिम्ब-विधान कविता का अलंकार न होकर सृजन के स्तर पर है, आन्तरिक विवशता का परिणाम है। इसमें बिम्बों और प्रतीकों की नयी रगों और नसों को खोजा, गया है— बरगद की घनघोर शाखाओं की गठित, अजगरी मेहराब, टेढ़े मुँह चाँद की ऐयारी रोशनी, हड़ताली अक्षर, बिल्ली के सफेद धब्बे-सी चाँदनी, सँवलायी चाँदनी, ज़िन्दगी भूरी नहीं खाकी है। मुक्तिबोध के कवि इस कविता को राकेट की तरह अन्तरिक्ष में छोड़ देते हैं। इसमें बिम्ब अपने को बिम्बित नहीं करता, कुछ और करता है जिससे परिचित होकर कविता की राह से गुज़रा जा सकता है। यदि नये बिम्ब कवि के गले से उतर कर भी पाठक के गले में अटक जाते हैं तो कविता पाठक के लिए सकील बन जाती है जिसे पचाने के लिए हाज़मा तेज़ करना पड़ता है। कभी-कभी सिर भी धुनना पड़ता है जब कविता 'सोचती' है। मुक्तिबोध की कविता में बिम्ब-विधान क्रियाशील होने की भी गवाही देता है, बिम्ब प्रतीकात्मक होने की साक्षी देते हैं। इस कविता में चांद के मुँह का टेढ़ापन प्रतीक बन कर आया है। इस चांद की चांदनी में षड्यन्त्र है, राजनीतिक हलचल है, पोस्टर बाज़ी है। इसमें भैरव भी मौजूद है जो विद्रोह का प्रतीक है। 'पथरीले नालों की धारा में धराशायी चाँदनी के होंठ काले पड़ गये हैं।'

हरिजन-गलियों में
लटकी है पेड़ पर
कुहासे के भूतों की साँवली चूनरी—
चूनरी में अटकी है कंजी आँख गंजे-सिर
टेढ़ मुँह चांद को।

इसी तरह भैरव की सिन्दूरी मूरत के **पथरीले** व्यंग्य के स्मित पर टेढ़े-मुँह चाँद की ऐयारी-रोशनी पड़ रही है। बरगद जानता है कि भैरो कौन है? बरगद इतिहास-बोध का संकेत देता है—

बरगद को किन्तु सब
पता था इतिहास,

गाँधी और तिलक के पुतलों पर बैठे घुग्घुओं के संवाद से पता चलता है, कि 'मनुष्यों पर किस तरह मूठ मार दो।' इस तरह सन तिरपन का परिवेश खुलता जाता है जब 'दिन के उजाले में भी अँधेरे की साख है' 'सत्यों की मिठाई की चाशनी कड़ाही से अकस्मात सड़कों पर फैल गयी है', शोहदों-सी चाँदनी, आवारा मछुओं-सी मछलियाँ फँसाती है।' इस तरह परिवेश कितना घिनौना है, गँदला है, काला है, भय-त्रास से भरपूर है। गाँधी के पुतले पर बैठे घूग्घु का गाना, कन-टोप पहने आसमान-बाबा का हनुमान-चालीसा की बानी में गाना, कवियों का बहकती कविताओं का पाठ करना, बुद्ध के स्तूप में मानव के सपनों का गड़ जाना, ईसा के पंखों का झड़ जाना, सत्य की देवदासी-चोलियों का उतारा जाना, सपनों की आँतों का चीरा और फाड़ा जाना यह साबित करता है—

बाकी सब खोल है,
जिन्दगी में झोल है!!

लेकिन सिन्दूरी विकराल भैरो हार मानने वाला नहीं है, वह चाँदनी के चेहरे पर खतरनाक ठहाका लगा कर इसे नंगा करना चाहता है और काव्य-नायक के चेहरे का संकेत दे जाता है। मुक्तिबोध के कवि पहाड़, खण्डहर, खोह का संकेत देने से बाज नहीं आते। ताल के उस पार एक पहाड़, वहाँ एक चबूतरा, उसके सिर पर खण्डहर जिसके अवशेषों में बूढ़ा पेड़। यह सब कुछ किस लिए? इस बात की गवाही देने के लिए कि पहले यहाँ क्या होता रहा है और अब क्या हो रहा है या होने वाला है। हड़-ताली पोस्टर चिपकाए जाने वाले हैं, ताकि लोग-बाग ज़िन्दगी की आग को पढ़ सकें और आग झल्लायी हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस, झल्लाने के बिम्ब में मुक्तिबोध का कवि उजागर होता है। इसके बाद पेंटर-कारीगर का संवाद रावण-अंगद की तरह भभकने लगता है। इसलिए पेंटर का कहना है कि उसने 'धुएँ से कजलाये कोठे की भीत पर' राम-कथा की व्यथा लिखी है; लेकिन अब तसवीर बनाने का ज़माना नहीं है, क्योंकि—

इच्छा अभी बाकी है—
जिन्दगी भूरी ही नहीं, वह खाकी है।

अब पोस्टर चिपकाने का वक्त आ गया है, 'पोस्टर ही कविता है,' और वह भी हड़ताली पोस्टर। कविता के अन्त में भैरो और बरगद में बहस जारी है—

जोरदार जिरह कि कितना समय लगेगा
सुबह होगी कब और
मुश्किल होगी दूर कब।

समय का कण-कण आसमान से चूकर बिजली की चमक बन रहा है। कब का जवाब तो नहीं दिया गया; लेकिन संकेत अवश्य दिया गया है...बरगद या इतिहास-बोध और भैरो या उल्लू और शूद्रों के विद्रोह में। इन में जो बहस छिड़ी हुई है, वह अपना रंग लाकर रहेगी। इस कविता में भी ब्रह्मराक्षस का बिम्ब है जिसका उपयोग स्वीकार के स्तर पर न होकर नकार के स्तर पर है...

हवाओं की लहरों के आकार—
किन्हीं ब्रह्म-राक्षसों के निराकार
अनाकार
मानों बहस छेड़ दें
बहस जैसे बढ़ जाए
निर्णय पर चली आय
वैसे शब्द बार-बार
गलियों की आत्मा में
बोलते हैं एकाएक
अँधेरे के पेट में-से

ज्वालाओं की आँत बाहर निकल आय इस तरह अंधी गली में छिपी ताकत फैसला करने वाली है और इसकी भाषा फुसफुसाहट की है जो आने वाली उथल-पुथल का संकेत देती है। इस 'निराकार-अनाकार' से जो आवाज निकलती है, वह नकार की है, स्वीकार की नहीं जिसे 'ब्रह्मराक्षस' कविता में सुना गया है।

इस तरह चाँद का मुँह जो टेढ़ा हो गया है वह संस्कृति- समाज के विकृत चेहरे का संकेत देता है और इसे सुकृत बनाने का संकल्प भैरो में छिपा हुआ है। कहर होने तक यह परिवेश भयानक बना रहेगा, मुश्किलें आसान नहीं होंगी। इसी तरह 'डूबता चाँद कब डूबेगा' में वह डूबता हुआ भी डूबने में नहीं आ रहा है। यह भी गंजी खोपड़ी वाला है। यह कविता 'अँधियारे मैदानों के सुन-सानों में बिल्ली-बाघ की चमकदार आँखों से शुरू होती है। मालवा का पठार मुक्तिबोध की कविता का फलक-सा बन गया है जो कभी रूढ़ि का भी संकेत देने लगता है। इसमें यह कविता में न होकर कविता पर है, विस्मय पैदा करने के लिए है। इसमें मनोविकारों को शोधने का चित्रण है जो 'काव्यात्मक' स्तर पर है; लेकिन जिन बिम्बों का उपयोग किया गया है उनमें नवीनता और ताज़गी है—पत्थर के बौद्धिक सींगों का निकल आना, जलन-रूपी औरत को मूँछ का निकल आना, द्वेष-पुरुष के दो हाथों का चार पंजों में बदल जाना, इन्सान में हैवान का संकेत देता है। इस पर मनोविश्लेषण के चिन्तन की छाप लगी हुई है; लेकिन इस लम्बी कविता में बात बनने से रह जाती है, इधर-उधर बिखर जाती है, कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व का संशोधन होने से रह जाता है। यह शायद इसलिए कि इसमें तनाव की शिथिलता है, स्थिति का चित्रण-मात्र अधिक है। ब्रह्म राक्षस इस कविता में भी है जो मुक्तिबोध के कवि का पीछा करता रहता है—

मानव मस्तक में से निकले
कुछ ब्रह्म-राक्षसों ने पहनी
गाँधीजी की टूटी चप्पल,
हरहरा उठा यह पीपल तब
हँस पड़ा ठठाकर, गर्जन कर, गाँव का कुआँ।

इसकी आवाज़ टोकती है, कुछ करने के लिए कहती है; लेकिन काव्य-नायक देखता खड़ा रह जाता है। इसमें माँ की ठिठुरन दर्द बन जाती है, उसकी बदरंग साड़ी का रंग उसके जीवन में पूरी तरह फैल जाता है। इसमें व्यक्तित्व बनाने की बात एक वक्तव्य बन कर रह जाती है, सृजन के स्तर नहीं आ पाती। इसलिए

अपनी खिड़की से देख रहे हैं हम दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डूबता चाँद, कब डूबेगा !!
यह डूबता-डूबता भी अभी डूबने वाला नहीं है। इस संदेह के साथ कविता का अन्त हो जाता है।

मुक्तिबोध की कविता 'एक अन्तर्कथा' एक आन्तरिक तनाव को लिए हुए है। तनाव वही है, 'है और होने की चाह' के बीच में है, आत्म-संशोधन की प्रक्रिया को जारी रखने वाला है। इसमें दायित्व का बोध एक टोकरी के माध्यम से किया गया है, संवाद माँ और बेटे के बीच है जो फैंटेसी में चलता है। देश और परम्परा दायित्व-बोध को काव्य-नायक अपने सिर उठाए हुए हैं। माँ आगे की लकड़ियाँ बीनती-बीनती जंगल (सभ्यता) में आग चल रही है और बेटे में दुविधा की स्थिति है; लेकिन माँ के आदेश का पालन करता हुआ वह हर टहनी-डण्ठल में एक-एक सपना आँकता हुआ उसके पीछे चल रहा है। उसकी चाल तिरछी है, टोकरी उठाने में संकोच महसूस करता है और डरता भी है। माँ का कहना है कि टोकरी में बन्द आग खुलने को है। इस कविता में फैंटेसी को क्यों अपनाया है? इसका जवाब है—

मैं विचरण करता हूँ एक फैंटेसी में
यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।

माँ की चेतावनी है कि व्यक्तित्व सुविधावादी होकर 'संवेदन का विवेक-संगत' उपयोग नहीं कर सका। इस तरह संवेदन और विवेक में पाट पड़ गया है। इसलिए वह रास्ते पर कचरे-जैसी लकड़ियों (करुणाओं) को बीन रही है। इस यात्रा को 'असंग की ओर असंग यात्रा' कहा गया है। समाज की तलछट को एक उज्ज्वल परम्परा चाहिए। इस 'ज्ञानात्मक संवेदन या संवेदनात्मक ज्ञान-के बाद कविता-नायक मानव-शिशु के बोझ को भारी' भारी महसूस करने लगता है। एकाएक उसके कन्धों पर एक देव खड़ा हो जाता है जिससे उसकी पीठ झुकने लगती है। उसे कुचला जा रहा है। जन्म से ही वह 'उल्लू का पट्ठा' कन्धे पर खड़ा हुआ है। वह तन कर खड़ा होता है, इतना तन कर कि वह देव से एकाकार हो जाता है। यह आत्म-संशोधन का फल है। और नभ जब उसके हाथों में आने लगता है तो उसे बीड़ी पीने की तलब (सुविधा) मजबूर करती है और उसे पहली सूरत में लौटा देती है। सुविधा जिन्दगी में बड़ी चीज है। माँ (इतिहास-बोध या परम्परा-बोध) फिर सावधान करती है, रूखी-सूखी टहनियों को बीनने के लिए कहती है और इन में छिपी आग को पहचानने का अनुरोध करती है। वह सामने सेमल के पेड़ को देखता है, जो लाल फूलों से लदा हुआ है, लाल रोशनी फैला रहा है। उसे देख कर वह जीवन से फिर जुड़ जाता है, जो आत्म-संशोधन की प्रक्रिया का परिणाम है। डॉ० रामविलास मुक्तिबोध की कविता में दायित्व-बोध के बारे में यह राय देते हैं कि जितना यह गहरा है उतना ही निकट कवि का हठ है, यह ज़िद है दायित्व से हटने की है, एकान्त में, समाज से अलग रह कर रहस्यवादी या अस्तित्ववादी चिन्तन करने की ज़िद। इस कविता में या किसी और कविता में तो यह शायद खोजने पर नहीं मिलती, लेकिन आलोचक 'अंधेरे में' कविता में चलते-चलते इसे खोज निकालते हैं। क्या यह हठ कवि का है या अलोचक का जो तनाव को, बोझा उठाने और बीड़ी पीने की तलब के बीच दुविधा की स्थिति को अस्तित्वाद-रहस्यवाद से जोड़ना चाहते हैं? मुक्तिबोध में यदि यह तनाव न होता तो वह कवि न हो पाता, पहुँचा हुआ चिन्तक या आलोचक ही बन पाता, कविता के बाहर नारे लगाता या कविता में नारे लगाता। 'एक अरूप शून्य के प्रति' कुछ कम लंम्बी कविता में घने बिम्बों की माला है जिसके आधार पर उस अरूप को रूप दिया गया है और शून्य को भरा गया है जिसकी जरूरत अब कवि को नहीं रही। इसे साकार करने के लिये रात और दिन उसके दो कान कहे गये हैं, एक काला और दूसरा सफेद। वह आसमान के चाँद के पलंग पर सोया हुआ है। इस धरती की चीखती आवाजें उसके कानों के बालों पर उड़ते हुए कीड़ों की तरह भिनभिनाती हैं; लेकिन उसकी गहरी नींद टूटने वाली नहीं है। वह बहरा तो नहीं, बेखबर और बेपरवाह है। वह कुछ न होकर भी सब कुछ माना जाता है। वह कुछ न होकर भी सब कुछ समझा जाता है। इस धरती पर नैतिक बोध क्या है? उसके 'चुभते बालों की खुरदरी परस से जो खरोंच लगती है वह नैतिक अनुभूति है जो आदमी को तकलीफ देती है। इसलिए 'अरूप शून्य' का यश झूठ है, सठियाया हुआ है। आत्मा कुतिया है जो अपनी लार टपकाती हुई सफलता के पहाड़ी ढाल पर चढ़ती और हाँफती है। इस तरह के घने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रौर तीखे बिम्बों से इस कविता की रचना हो रही है। इन्सान इस ग्ररूप की खोज में लग कर क्या पा रहा है—इसका चित्रण इस तरह किया गया है—

महान विशेषताएँ मेरे सब जनों की
तू ने उधार लीं
निज को संवार लिया
निज को ग्रशेष किया
यशस्काय बन गया सर्वत्र ग्राविर्भूत !

मुक्तिबोध के कवि का मन शंका से उसी तरह घिर जाता है जिस तरह साँझ काले मेघ से। वह अपनी हथेली पर जलती ग्राग को महसूस करने लगते हैं, विवेक की ग्राग को जो जलता कमल है, जिसे पानी में धँस कर वह तोड़ कर लाया है वह भीतर से गीला है (उसका विवेक संवेदन में भीगा हुग्रा है)। इसलिए अब उसे 'अरूप शून्य' की जरूरत नहीं रही, उसके साँवले चेहरे पर कीचड़ के धब्बे ग्रौर दाग हैं। वह लम्बी यात्रा के बाद, आत्म-संशोधन की प्रक्रिया के बाद, इस स्थिति में पहुँचा है जो फिर गीत में बदल जाती है, प्रक्रिया पूरी पड़ कर फिर ग्रधूरी हो जाती है।

अगली कविता जो बहुत लम्बी है, १६ ग्रंशों में विभाजित है, मुक्तिबोध की कविता के चेहरे को नागात्मक रूप में उतारती है—'जो काव्यात्मन् फणिधर।' यदि पहले चाँद का मुँह टेढ़ा था, इस कविता में ब्रह्मदेव का मुँह टेढ़ा है जिसकी छत्रछाया के नीचे ग्रमीर ग्रधिक से ग्रधिक चमकते हैं ग्रौर गरीब एक-एक सीढ़ी नीचे गिरते जाते हैं। इस संक्रान्ति के काल में मुक्तिबोध ग्रपनी नागात्मक कविता को धीरज धारने को कहते हैं। इस कविता में भी 'रहस्य-लोक' का सृजन है जिसमें युग की दहशत है, भय ग्रौर त्रास है ग्रौर यह रहस्य-लोक रहस्यवादी न होकर फैंटेसी का है जिसके भीतर से वास्तविकता झाँकती है। कवि के लिए उस शिशु की समस्या है जिसे पैदा होते ही कुएँ के गोल—सूखे तले पर छोड़ दिया गया है। इसे बचाने की कवि को चिन्ता है, दायित्व निभाने की फिक्र है। इसे साँप, नाग, कोबरा, पायथन, तक्षक की भाषा में निभाया गया है। उसका भीतर जागा था; लेकिन वह इस जागरण को सह न सका, सुविधा से घिर गया, खतरा मोल न ले सका। वह निरा ग्रौर कोरा भला ग्रादमी निकला जो कुछ न कर सका, केवल सोच सका, बेचारा था, शरीफ था। ग्रब उसे ग्रपने कोरे ज्ञान को संवेदना में गीला करना है, ग्रपने व्यक्तित्व का संशोधन करना है। यह शिशु—

श्रम-गरिमा का पी दूध
सत्य नव-जात
विकसता जायेगा।

मुक्तिबोध का कवि सारे जगके समेत ब्रह्मदेव के इस टेढ़े मुँह को पूरी तरह देख चुका है, ग्रात्म-रति की स्थिति से निकल कर लोगों के साथ हो जाना चाहता है जो उसके रत्नों को पहचानते हैं, 'बागी विचारों' को जानते हैं, शुक्र, गुरु, बुध-मंगल कचरे की परतों में दबे पड़े हैं। इनको खोद निकालने का समय ग्रा गया है। इसलिए कविता नागात्मक है जो विषपायी होकर ग्रपने भीतर मणियों को छिपाए हुए है। इन मणियों-रत्नों की 'नक्षत्र-खण्ड' कविता में भूरी पहाड़ी में खोदा गया है, जगमगाते रत्न मंगल-शुक्र के कण हैं। इस भूरी पहाड़ी को 'उपेक्षित तथ्य का टीला' भी कहा गया है जो सतह्री जानकारी में ग्रजाना रह गया है। मुक्तिबोध का कवि गहरे में उतरकर पूरे सत्य को पाने में लग जाते हैं। आसमानी तारों की भाषा में उन्हें ध्रुवतारा दरकार है जो सप्तर्षि के आखिरी दो तारों की सीध में गंभीर है, जो दिक् ग्रौर काल के बारे में नया बोध दे सकता है। यह पूरा सत्य क्या है जो ग्रधूरे को पूरा करता है? जब तक इस ग्रधूरे सत्य का बोध सामने नहीं ग्राता तब तक पूरे सत्य की बात 'रहस्यवाद' के लोक में चली जाएगी जो 'रहस्य-लोक' से भिन्न है ग्रौर जिसे कवि बार-बार दोहरा कर कभी-कभी इसे रूढ़ि में बदल देते हैं। सत्य का ग्रधूरापन कविता में इस तरह है—

ग्रधूरा···
क्यों कि केवल भावना से
काम चलना खूब था मुश्किल।
हमें चाहिए था कुछ ग्रौर
जिस से खून में किरनें बहें रवि की
कि जिस से दिल
ग्रनूठा भव्य ग्रपराजेय टीला हो
कि जिस से वक्ष

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृ० १४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सिद्धान्त-सा मजबूत
भीतर भाव गोला हो
हमें चाहिए था कुछ और···
हमें चाहिए था कुछ वह
कि जो ब्रह्माण्ड समझे त्रस्त जीवन को
व उस में देख पाये
जगमगाती स्नेह-आश्लेषा
व निर्मल झलमलाती बुद्धि-ज्योतित
मुग्ध चित्रा वह
चमकती गौर करुणा भाव की
शुभ्र-स्मिता आद्रा
अनवरत मुक्तिकामी विश्व-व्याख्यान रत
धवल सप्तर्षि

इस उदाहरण में कुछ अंशों पर ध्यान दें तो लगेगा कि भाषा की आड़ में 'रहस्यवाद' के निरूपण का खतरा है। क्या इन शब्दों की व्याख्या शाब्दिक स्तर पर करने से इनके सतही मायने ही हाथ नहीं लगेंगे जिनको मुक्तिबोध का कवि काट कर 'बंजर' को काटने की बात इस कविता में करता है ? क्या कोरी भावना या कोरी जानकारी का विरोध इनकी कविता में बार-बार नहीं हुआ है ? क्या रवि की किरनों का बहना हठयोगी स्तर पर है ? क्या दिल का भव्य अपराजेय टीला आगे चलकर ध्रुव का संकेत नहीं देता ? क्या धरती के त्रस्त जीवन को ब्रह्माण्ड समझना रहस्यवाद है ? क्या त्रस्त जीवन में 'स्नेह-आश्लेषा' को देख पाना और उसे जो बुद्धि या विवेक से चमकती है और करुणा का रूप धारण करती है, आत्म-संशोधन की प्रक्रिया का परिणाम नहीं है ? यह करुणा मात्र बौद्ध-मत की न होकर कुछ और भी है। यह निरन्तर मुक्ति की कामना करने वाली है जो इस त्रस्त और शोषित जीवन के ब्रह्माण्ड के या विश्व के व्याख्यान में भी रत है। इसलिए रहस्य-लोक की रहस्यवाद से पटरी बिठाने से उसी तरह काम नहीं चलेगा जिस तरह केवल भावना से या कोरी जानकारी से या बुद्धि से। कवि ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की जब बात करते हैं तो इस दृष्टि को इंगित करते हैं। इससे सहमत-असहमत हुए बिना भी कविता से इन्साफ कविता के स्तर पर किया जा सकता है। अन्त में वह निधि अपने पास न रख कर उसे इधर-उधर बाँटने का संकेत दिया गया है—

व इन नक्षत्र-खण्डों को
ललक कर ले लिया हमने इसे देने, उसे देने
इन्हें देने, उन्हें देने।

इन्हें-उन्हें देने को 'चकमक की चिनगारियाँ' कविता में विस्तार दिया गया है और यह लम्बी रचना आठ अंशों में विभाजित है, कभी फैंटेसी में आने की तो कभी इससे बाहर निकलने की प्रक्रिया को लिए हुए है। इसमें कसा हुआ तनाव रचना को सृजन के स्तर पर उठा देता है। यह तनाव व्यक्तित्व के सिमटने और विस्तार पाने के बीच है। अपने-आप में सिमटकर रह जाना सतही और अधूरी जिन्दगी का रास्ता है। यह उसी तरह है जिस तरह एक 'गहरा स्याह हब्शी गोरों की निगाहों से ओझल होकर, सिमट कर सिफर होना चाहता है' इस कविता में सिकुड़ते मन की बेचैनी और चीख है—

हर पल चीखता हूँ, शोर करता हूँ
कि वैसी चीखती कविता बनाने में लगता हूँ।

यदि यह तनाव की दशा न होती तो कविता के बजाय एक नारा लग सकता था। इसके बाद 'टक' और कविता फैंटेसी में चली जाती है, जिसके माध्यम से वास्तव को उजागर किया गया है। कन्धे से अचानक सिर का उड़ जाना आदि इसे इंगित करता है। वही चमकते रत्नों की खोज जो मार खाने के बाद ही काली खोह में मिलते हैं। फैंटेसी जारी है। चाँद आसमान से एक नीला लिफाफा तम-विवर में फेंक देता है। उसमें मज़मून साफ है। इसे कहने के लिए फैंटेसी को अपनाना बेहतर समझा गया है, जिस पर मुक्तिबोध के कवि ने अधिकार पा लिया है। इसमें स्पष्ट बात यह है—

कि अपनी मुक्ति के रास्ते
अकेले नहीं मिलते।

यह अपने-आप में वक्तव्य लगता है, लेकिन भीतर से कविता से जुड़ा हुआ है। इससे कवि-व्यक्तित्व में खिलने और खुलने लगता है। उसका दिल जीवन की आलोचना करते-करते काला पड़ गया है। यह गोरी राधा के काले पड़ जाने से भिन्न संवेदना को लिए हुए है। आत्म-संशोधन की प्रक्रिया फैंटेसी में जारी है और फिर टक होकर यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूट जाती है और कवि एक सूने-पुराने बरगद के पास अपने को पाकर वास्तव में पहुंच जाता है। एक लेख मशीन पर तड़-तड़ की आवाज़ में टंकित हो रहा है। वहाँ से नीली और लाल चिनगारियों के दल उछलते हैं, वहाँ लुमुम्बा, अलजीरिया, लाओस और क्यूबा हैं। इसके बाद फिर टक और फैंटेसी की रचना शुरू हो जाती है। आसमान में चाँद का मुस्कराना व्यंग्य को लिए हुए है जो कवि-व्यक्तित्व पर कसा गया है। वही वीरान टावर, वही चक्करदार ज़ीना, उस पर चढ़ने-उतरने की वही बात, रोशनी-घर की एक अँधेरी मीनार में रूह के भटकने की वही बात, वही कारतूस-रायफलों से पैदा त्रास, देश का वही दायित्व-बोध और चमकते निशानों को फेंकने की वही बात; लेकिन इसे नये अन्दाज़ में बयान किया गया है। कवि-व्यक्तित्व में तूफान आया हुआ है जिसे संगीत की तूफानी भाषा में अंकित किया गया है। यह ताण्डव की भाषा न होकर एक और स्तर पर भयानक है। मूल समस्या इस तरह उभरती है—

समस्या एक—
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त
कब होंगे ? —(पंत के मानव की तरह नहीं)

इसलिए मुक्तिबोध का कवि **अपनी अधूरी** कविता में उमग कर फिर से जन्म लेना चाहता है ताकि वह जीवनको नये सिरे से समझ सके और इसे जी सके। इसलिए कविता कहीं भी खतम होने वाली नहीं है, वह परम स्वाधीन है, अनागत की छाया को लिए हुए है, जनता को बनाती है, जनता के कारणों से चमकती है; लेकिन कवि की वजह से वह सकुच जाती है। अन्त में अधूरी बीड़ियाँ सुलगा कर, खयाली सीढ़ियाँ चढ़ कर चाँद के तल पर पहुँचने की बात है। इसके बाद कविता का विकल हो कर कवि से लिपट जाने का संकेत है। कविता जिस बात का संकेत देती है वह अधूरी साबित हो कर न तो खत्म होती है और न ही कवि से अलग होती है। क्या यह आत्म-संशोधन की प्रक्रिया नहीं है जो कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व का रूपांतरण करती है ? क्या इसकी विकलता तनाव को इंगित नहीं करती ? मुक्तिबोध का कवि जब परिवार-पड़ोस और देश के लोगों से जुड़ने के क्षण को महसूस करता है तो वह 'मस्ती' में आ जाता है। उस मुक्ति के क्षण में 'मस्ती' को 'आनन्द' से जोड़ना संगत नहीं जान पड़ता। 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे' में भी इस मस्ती का संकेत है। यह और बात है कि यह कविता बनने से रह जाती है, बार-बार टूटने की गवाही देती है।

मुक्तिबोध ने अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में बहुत-कुछ लिखा है, कभी अपनी भाषा में (सृजन के तीन क्षण) तो कभी शुक्ल की भाषा में जिसके दायरे में आज भी आलोचना चक्कर काट रही है। कवि ने अपनी एक-एक कविता पर महीनों काम किया है। इसका संशोधन करने के लिए इसमें बार-बार डूबना पड़ा है, ताकि यह बिम्ब-व्यवस्था या भाव-व्यवस्था में बँध जाए ; लेकिन वह यह भी नहीं मानते कि इससे कला स्वतन्त्र तन्त्र के आन्तरिक नियम भंग न होने पाएँ। वह फैंटेसी के भीतर जाने और बाहर आने में अपने अनुरोधों की बलि देना नहीं चाहते। इसलिए कभी-कभी कृति बिम्ब-व्यवस्था या भाव-व्यवस्था में बँधने से रह जाती है ; लेकिन 'एक स्वप्न कथा' कविता में यह बँध कर इसे सफल कृति बना देती है। इसमें भी फैंटेसी का विधान है जिसकी तह में वास्तविकता झाँक-झाँक उठती है। इसका रहस्य-लोक सागर के विस्तार को लिए हुए है जो भयानक है, काला है, इतिहास-बोध का संकेत देने वाला है। मुक्तिबोध का कवि 'विजय और पराजय के बीच' डोल रहा है, उसके रात-दिन, साँझ-सवेरे सागर में नहाते रहते हैं। यह नहाना नया नहीं पुराना है, मल-शोधन काली बावड़ी में न होकर सियाह सागर में है। इसकी सियाह लहरों में नंगी किरनीली मूरतों के नहाने का क्या मतलब है ?कवि की अपनी गतिशील सूरतें हैं जो कवि को डराती रहती हैं। इस समुन्दर की व्याख्या क्या है, इसका भाष्य क्या है--इस सवाल का जवाब देना है, इतिहास-बोध को गहराना है। यहाँ आकर अनहद गान का संकेत है जिसका सन्दर्भ (अर्थ) हठयौगिक न होकर मुक्तिबोधीय है[1]। इसमें रहस्य-लोक है, लेकिन यह रहस्यवादी नहीं है। व्याख्यान और भाष्य की रट जारी है। पुराने युग की याद आती है जब एक शिला-खण्ड देव बना था और

---
१. चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृ० १८३ दू० सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी पूजा होने लगी थी । इस मिथक-कथा या गाथा का आधुनिक संदर्भ में उपयोग इसे रहस्यवादी नहीं बनने देता । इसी तरह ज्ञान-मणि की बातें नये स्तर पर हैं । इस जगह कविता फैंटेसी से निकल कर वास्तव में आती है जहाँ जमाने को बदलने के लिए 'जद्दोजहद' के संकेत पर प्रश्नचिह्न लगा हुआ है । इसलिए कविता अभी अँधेरे में है या काव्य-नायक अभी अंधकार में भटक रहा है । क्या अकेले अंधकार में भटकने का ठेका एक 'अस्तित्ववादी' ने ही लिया है जैसा कि एक आलोचक का मत है ? क्या 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते और 'सीधे-सादे रास्ते' में अस्तित्ववाद और मार्क्स-वाद को आँकना संगत है ? यदि यह संभव होता तो इन वादों की अनेक किस्में सामने न आ पातीं । इस कविता में कवि के व्यक्तित्व को पहचानने की कोशिश जारी है, उसे बदलने की प्रतिक्रिया चल रही है । यह आवाज़ उसके भीतर से स्फूर्तियों में उठती है वह महसूस करने लगता है—

मैं जो पुत्र उनका हूँ ;
अब नहीं पहचान में आता हूँ ;
लौट विदेशों से
अपने ही घर पर मैं इस तरह नवीन हूँ
इतना अधिक मौलिक हूँ ---
असल नहीं ।।

इन पंक्तियों में तनाव व्यंग्य के स्तर पर सृजन पाता है, अन्तिम पंक्ति इसकी गवाही है । वह इनको छोड़कर इन से इतना दूर हो गया है कि वह बदला गया है । इसका परिणाम काव्य-नायक की कविताओं में इस तरह निकला है—

इसीलिए, मेरी ये कविताएँ
भयानक हिडिम्बा हैं,
वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ
विकृताकृति-बिम्बा हैं ।

इस तरह मुक्तिबोध के कवि को अपने परिवेश से कट कर बदल जाने का खेद है । यदि इनके कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व का एक साथ संशोधन हो पाता तो इनकी कविताओं की आकृति हिडिम्बा की न बनती । यह बिम्ब मिथक से जुड़ कर पूरे काव्य को समेटना चाहता है । यह शुद्ध बिम्ब भी नहीं है, आधा दृश्य और आधा मानसिक । यह कविता में तनाव को कसता है । इस तरह के अनेक बिम्ब या चित्र मुक्तिबोध की कविताओं में बिखरे पड़े हैं जो नवीनता को लिए हुए हैं । इनके कवि-व्यक्तित्व में जो तनाव या आन्तरिक खिंचाव की स्थिति या प्रक्रिया है, वह उसे भयानक समुन्दर में फेंक देती है, जहाँ वह अपने से लड़ते-लड़ते घायल हो जाता है । यह कवि और कविता का आत्मसंघर्ष है । इस तरह अवचेतन में वह गोते लगाता है जिसकी खोज करनी है । इस सागर में रह कर मगर से शत्रुता भी नहीं हो सकती । अब वह फैंटेसी से निकल कर जब बाहर आता है तो जलूस को देखता है, वास्तविकता का सामना करता है । इस जलूस में नेता, सौदागर, अफसर और कलाकार हैं ; लेकिन काम का एक भी नहीं है । सब भीतर से खाली हैं । इतिहास का बोध जागता है जो उसे याद दिलाता है—

इस काले सागर का
सुदूर-स्थित पश्चिम-किनारे से
जरूर कुछ नाता है
इसीलिए हमारे पास सुख नहीं आता है ।

इस बोध में भौतिक संस्कृति या आध्यात्मिक संस्कृति की बात न होकर फिरंगी लुटेरों की बात है जिसका संकेत पहले दिया जा चुका है । अन्तिम तान "संगठित विरोध के जहाज़" पर टूटती है जो 'साहसी समाज' से लदा हुआ है, अपनी मुक्ति की खोज में आने वाले कल पर विश्वास नहीं रखता, आज में ही इसे पाने की कोशिश में चल पड़ा है । इसी तरह 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' कविता में मुक्तिबोध के कवि के लिए दायित्व का बोध उसे आत्म-संशोधन के लिए बाधित करता है, वह अंधेरे कोने में मर-मर कर जिया है, कुछ कर नहीं पाया है । इतने में उसे मास्टर की डाँट पड़ती है—

जितना भी किया गया
उससे ज्यादा कर सकते थे ।
ज्यादा मर सकते थे ।
अब काँट-छाँट की बाट हर घड़ी है ।

इस तरह बाट जोहते-जोहते कविता की तान आत्म-संशोधन पर टूटती है ।

५

इस संकलन में अन्तिम दो लम्बी कविताएँ 'चम्बल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की घाटी में' और 'अंधेरे में' इस बात की गवाही देती है कि इससे बेहतर मुक्तिबोध लिख सकते थे। इन में आज की कविता की और इनकी कविता की भी संभावना है जो शायद उपलब्धि से बेहतर होती है। इस दृष्टि से भी इनकी कविता अधूरी है जो शायद पूरी से बेहतर है। 'चम्बल की घाटी' और 'अंधेरे में' दोनों में फैंटेसी का विधान है जिसे मुक्तिबोध ने ऐलिगरी भी कहा है, उसे एक रूपक भी कहा जा सकता है। वह एक लम्बी कविता के रचना-विधान को अपने एक निबन्ध में विस्तार से साफ करने की कोशिश भी करते हैं, जिससे परिचित होकर इन लम्बी कविताओं को पहचानना संगत होगा। एक अति सचेत कवि के नाते वह एक लम्बी कविता का अन्त करने के बाद महसूस करते हैं कि इसका अन्त शिथिल पड़ गया है। इसे सँभालना खाला का घर नहीं होता। वह यह भी जानते हैं कि वह अपनी बात को छोटी कविता में कह भी नहीं सकते। यह इसलिए कि इनकी बात बड़ी होती है, लम्बी पड़ने लगती है, अपने में गुंथे हुए वास्तव को समेटना चाहती है जो गतिशील होता है। क्षण को पकड़ना जो शायद इतना कठिन न हो जितना गति को पकड़ने की कोशिश करना। इसलिए स्थिति जब गति में बदलने की गवाही देने लगती है तो इसे पकड़ना मुश्किल पड़ जाता है। मुक्तिबोध के कवि ने यह तय कर लियाहै कि वह अभिव्यक्ति का हर खतरा उठाने को तैयार है; मगर वे कविता के माध्यम को ही अपना सकते हैं। इस गतिशील वास्तव या जटिल वास्तव को कथा-साहित्य या नाटक में समेटने की शायद अधिक संभावना हो; लेकिन मुक्तिबोध का इन विधाओं पर अधिकार नहीं है। इसलिए वह अपनी कविता में इनका उपयोग तो करते हैं, लेकिन यह भी कह देते हैं कि काव्य-कथा में कथा केवल आभास है, नाटकीयता केवल मरीचिका है। इस काव्य-कथा को वह आत्मगत काव्य कहते हैं जिसके रंग साँवले हैं। एक उदाहरण से वह अपनी बात का इस तरह बयान करते हैं—एक व्यक्ति को लगता है कि वह ऐसे अहाते में चला गया है। जहाँ जाने की मनाही है। यह एक रहस्यमय बंगला है। (यह कहीं बंगला है, कहीं टीला है, कहीं बावड़ी है, कहीं घाटी है, कहीं टूटा-फूटा कमरा हैं, कहीं टावर है और कहीं खोह) इस बँगले में दो आदमी हैं एक जासूस और दूसरा पागल; कवि-व्यक्तित्व के शायद दो रूप जिन में बहस छिड़ी रहती है। यह संवाद शैली इनकी अनेक कविताओं में जहाँ फैंटेसी का विधान है, मिल जाती है। इसी के बारे में कहा गया है कि नाटकीयता है जो मरीचिका है। इस बंगले की सीढ़ियाँ ज़मीन के भीतर-भीतर चलती हैं जो अनेक देशों में जा निकलती हैं। इनका शहर के क्लाक-टावर में भी चुपचाप पहुँचना दिखाया है। भीतर की बात शायद मानव के उपचेतन से जुड़ी हुई है और क्लाक-टावर इसके चेतन से या उपचेतन के उन्नयन से। यह वैयक्तिक स्तर पर मनोविश्लेषण की शब्दावली में उन्नयन है और सामूहिक स्तर पर मुक्तिबोध की भाषा में आत्म-संशोधन की प्रक्रिया है, जो बाहर-भीतर को जोड़ कर दोनों को बदलना चाहती है या बदलने का दिशा-संकेत करती है। इस बंगले में, जो 'रहस्यमय' होकर 'रहस्यवादी' नहीं है, सब ने अपना-अपना सामंजस्य स्थापित कर रखा है। इसका परिणाम यह निकला है कि सब भीतर से टूट चुके हैं। बंगला लोभ-लाभ का संकेत देता है जहाँ लोगों ने इस से 'संतुलन-सामंजस्य' स्थापित कर अपने को झुठला रखा है। इस बंगले की कहानी को यदि मुक्तिबोध का कवि बार-बार दोहराता है तो वह इसे बुनियादी बात समझता है। इस से कविता की विविधता को यदि ठेस नहीं लगती तो इसकी एक वजह यह है कि यह कभी कुआँ है तो कभी बावड़ी, कभी टीला है तो कभी घाटी, कभी कमरा है तो कभी खोह, कभी शहर में क्लाक का टावर है तो कभी सागर में रोशनी है, कभी पहाड़ है तो कभी जंगल है और दूसरी वजह यह है कि इसे निभाने के ढंग अलग-अलग हैं।

इसे 'चम्बल की घाटी में' कविता में एक स्तर पर और 'अंधेरे में' कविता में दूसरे स्तर पर निभाया गया है। इस में एकस्वरता को खोज कर पा लेना उसी तरह शायद असंगत होगा जिस तरह महादेवी के गीतों में 'असीम-ससीम' या दुःख की बुनियादी बात में एकतानता को खोजा और पाया गया है। यह भी सही है कि शेक्सपियर की विविधता और व्यापकता का अभी सानी कवि

१. 'एक साहित्यिक की डायरी' में 'एक लम्बी कविता का अन्त'
२. ,, ,,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैदा होना है; लेकिन उनका माध्यम नाटक था जो काव्यात्मक है। इस तरह तो ग़ालिब की कविता में भी एकस्वरता को खोज निकालना बहुत मुश्किल न होगा और अगर मुश्किल भी होगा, तो इसे आसान बनाया जा सकता है। अगर 'रहस्यमय' को 'रहस्यवाद' बनाया जा सकता है, तो इस तरह की सब मुश्किलें आसान हो सकती हैं। 'चम्बल की घाटी में' कविता अँधेरे का भभकार उमड़ने से शुरू होती है जिसे ठहाके की गूँज काट देती है और कवि टीलों के बीच घूमने लगता है और यह महसूस करने लगता है कि वह एक गति न होकर स्थिति है जो जड़ होने का आभास देने लगती है। यह स्थिति किसी 'वारदात या भयानक बात' में फूटने वाली है और इतिहास इसकी गवाही दे रहा है। इस फैंटेसी के रचना-विधान में कवि अपने को 'शिला-रूप' में कैद पाता है। कैद की बात तो वही है; लेकिन जगह बदलती रही है। इस कविता में खोज जादूगर की है और इसका उपयोग रहस्मय तो लगता है; लेकिन इसे रहस्यवादी नाम देना संदर्भ में फिट नहीं बैठता। उसने रत्नों को इसलिए छुपा दिया है कि वे खतरनाक थे। अब एक झुरमट के पास काव्य-नायक बैठा हुआ है जहाँ से एक पहाड़ी साँप 'लहरीली गति' से भागता हुआ निकलता है। यह कवि की कविता है जो कवि से डर कर भाग जाना चहती है। इसके बाद पते की बात यह है कि घाटी में—

अब तक अथाह जो भरी-पूरी नदी थी,
वह आज
अपनी ही घाटी में डूब मरी।
चम्बल के (यहाँ आ) पैर उखड़ गये;
तुम ने बहुत देर की,
तुमने बहुत देर की,
घानी की खोहें और थाहें सब सूख गयीं
तले सब फट गये,
दरारों में प्यास भर गयी है
भूख-भरी गहराई खुली पड़ी कब से
जाने कब से।

इस चम्बल की घाटी के उजाड़ में कवि की यह आस्था बनी रहती है कि सब लोग अभी मरे नहीं हैं, वे कहीं जिंदा हैं। आदमी शायद खुल कर काम करेगा, दस्यु बन कर भी हथियार बनाने के कारखाने कायम करेगा, 'गिरोह बनायेगा, आतंक फैलायेगा।' यह दस्यु कौन है? इसका संकेत आज के गुरीला की तरफ है। एक आवाज़ कवि को सावधान करती है—

शान्त हो, धीरज धरो,
और, उलटे पैर ही निकल जाओ यहाँ से,
ज़माना खराब है,
हवा बदमस्त है;
बात साफ-साफ है,
सब यहाँ त्रस्त हैं;
दर्रों में भयानक चोरों की गश्त है,

079568

यह आवाज़ उन लोगों की है जो गुरीलों को चोर, डाकू या लुटेरे कहते हैं। इस तरह काव्य-नायक में आवाज़ों का तनाव चल रहा है, एक आवाज़ खतरा उठाने को कहती है और दूसरी इससे भागने का मशविरा देती है। फैंटेसी जारी है। वह सिर पर गठरी कंधे पर बालक और पीठ पर फटे अँगोछे से बँधी बच्ची को उठाए भागता चला जा रहा है। एक पूरा चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। इसे साफ करना ज़रूरी है ताकि पाठक के मन में यह उतर सके—

यों मेरी कविता है बिना-घर
बिना छत गिरस्तिन,
जिस में मेरा भाव
ज्वलन्त जागता
जिसे लिए हुए मैं
देख रहा ज़माने की गयी परिपाटियाँ
चम्बल की घाटियाँ।

इस वास्तव के चित्र के बाद फैंटेसी फिर जारी हो जाती है और यह चित्रण इस में दरार नहीं डालता। अब एक शिला-पुरुष नज़र आता है, जिसकी पहचान करने के लिए उसे 'गतियों का हिम' कहा गया है, उसके पराक्रम को बीच में ही टूटा हुआ बताया है। यह शायद डॉ० राम विलास को 'कामायनी' के मनु की याद दिलाता है और वह इसकी तसवीर को मुक्तिबोध की कविता के मनु से (शारीरिक और मानसिक गठन की दृष्टि से) मिलता जुलता पाते हैं। क्या मुक्तिबोध का मनु समरसता में अपनी मुक्ति पाता है? इसका जवाब 'नहीं' में है। इसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचक ने यह कहकर सँभाला है कि इनका 'मनु वह सब कुछ है जो मुक्तिबोध है और होना चाहते हैं।' यह तनाव ही प्रसाद और मुक्तिबोध के मनु को एक-दूसरे से अलग कर देता है। यह इस बात की गवाही देता है कि अगर मुक्तिबोध 'कामायनी' लिखते तो 'चम्बल की घाटी में' या 'अँधेरे में' का रूप धारण करती—एक रहस्य-वाद' को लिए हुए और दूसरी 'रहस्यमय' को लिए। इनका रचना-संसार एक-दूसरे के विपरीत बैठता है। इस कविता में संतुलनात्मक स्थितियों को बुरी तरह छी-थू कहकर फट कारा गया है। काव्य-नायक महसूस करता है कि सारी आगें **अकेले में** जलकर अपनी 'ऐसी की तैसी, ही कर सकती हैं।

पहड़ी इलाका,
सामंजस्य है सूखा शिलीभूत
भूख है दिल में,
दिमाग को फाका।
झूठी हैं बुद्धियाँ,
सब आत्मशुद्धियाँ झूठीं,
साझे हैं खतरनाक,
समझौते भयानक, बदरंग खाका
पहाड़ी इलाका॥

इसमें बुद्धि की सीमा को लेकर इसका तिरस्कार किया है, लेकिन 'कामायनी' पर अपनी आलोचना में मुक्तिबोध श्रद्धा का तिरस्कार करते हैं। इन दो धारणाओं में संगति नहीं बैठती। इस कविता में दस्यु, जिन्न, भूत का चित्रण रहस्यमय तो लगता है, लेकिन यह रहस्यवादी संवेदना को नहीं लिए हुए है। **कामायनी** में तनाव एक स्तर पर है, **चंबल की घाटी में** यह दूसरे स्तर पर है इसकी और उसकी भाषा में अन्तर दोनों कवियों की संवेदना के अन्तर को साफ करता है।'कामायनी' में तनाव की भाषा 'काव्यात्मक' है, लय-ताल-लास्य-ताण्डव को लिए हुए है जबकि **चंबल की घाटी** में तनाव की भाषा इस तरह है जो समकालीनहै---

भयानक दंगा है
भीतरी हिस्सों में तेज़
फेंक कर मारी जाती कुरसियाँ
माथों को तोड़ती है मेज़
विधानों की अन्तः सभाओं में
वारदातें सनसनीखेज़॥

इसके बावजूद अगर दोनों कवियों के मन आपस में मिलते-जुलते लगते हैं तो शायद इसलिए कि दोनों घायल हैं। क्यों, किस तरह और कैसे घायल हैं—इन में अन्तर आँखों से ओझल रह जाता है। **कामायनी** में मधु वैदिक युग का न होकर छायावादी युग का है और मुक्तिबोध की कविता में वह छायावादी युग का न होकर समकालीन है। इसे श्रद्धा शायद एक-दो बार मिली और छोड़कर चल दी (कल जो हम ने चर्चा की थी), वरना यह भी अँधेरे में भटकने के बजाय कैलास पर समाधि लगाए बैठा होता और और अखण्ड आनन्द में डूबा हुआ होता। इसे तो 'सवालात ही सवालात' तंग करते रहते हैं। इस में कविता में फैंटेसी एक लम्बा रास्ता पकड़ चुकी है। इसका 'अखण्ड ढाँचा' है जिसे 'पाषाणी कारा' कहा गया है और जिससे पूछा जाता है कि क्या किया जाए या क्या हो जाए। इसमें जब जवाब देने की कोशिश होने लगती है तो सृजन शिथिल होने की नहीं, टूटने की भी गवाही देने लगता है। इस तरह कविता में उतार आने लगता है; लेकिन फैंटेसी के टूटने पर और वास्तव में आने पर फिर यह चढ़ने लगती है—

शिलीभूत भूमि से
सामंजस्यों का घनीभूत जितना
यत्न है तुम्हारा,
उतनी ही बंजर बनती है दुनिया,
उतनी ही जिन्दगी उजाड़ बनती।
उतनी ही दृढ़ है पाषाणी कारा।

यह दस्यु कौन है जो काव्य-नायक की छाती पर चढ़ कर बैठा है, वह उसका अपना बिम्ब है, अपना स्वरूप है जो उसे कुछ करने नहीं देता। जब तक उसकी यह स्थिति है, उससे छुटकारा नहीं मिलता तब तक काव्य-नायक को मुक्ति नहीं मिल सकती—

याद रखो,
कभी अकेले में मुक्ति नहीं मिलती,
यदि वह है तो सबके साथ है।

---

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृ० २५३
२. चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृ०२५८-२६३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता की तान यहाँ आकर टूटी है। 'मुक्ति' के साथ 'यदि' जुड़ा हुआ है; यह संदेह का संकेत छोड़ जाता है। इस कविता के अन्त में आत्म-संशोधन की प्रक्रिया अपने को सलाह देने में जारी हो जाती है जिसे आत्म-संघर्ष का नाम दिया जाता है। इस संघर्ष को मानव और दानव के संघर्ष के रूप में भी आँका गया है। कविता में सलाह इस तरह की है—एक वेग के साथ टीले से लुढ़क जाओ, बाधाओं से टकरा कर चूर-चूर हो जाओ। अँधेरी खोह में यदि बिखर जाते हो तो भी अणुओं को बीन-बीन कर लोग उठाकर ले आएँगे और इस तरह काव्य-नायक का उपयोग हो सकेगा। आज पीड़ित लोग लुटेरों की टोह में हैं। इनके नाश में ही उनका विकास है। इस मसीही अन्दाज़ में कविता का अन्त हो जाता है।

मुक्तिबोध की अन्तिम कविता और इस संकलन की आखिरी कविता 'अँधेरे में' को अपनी-अपनी दृष्टि से पहचानने की कोशिश आलोचकों ने की है। इसके बारे में शमशेर का काव्यात्मक अन्दाज़ में यह कहना है—'यह कविता देश के आधुनिक जन-इतिहास का एक दस्तावेज है। इसमें अजब और अद्भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है। देश की धरती, हवा, आकाश, देश की सच्ची मुक्ति, आकांक्षा नस-नस में फड़क रही है··· और भावनाओं के अनेक गुंफित स्तर पर।[1]' इस महान रचना का नाम भी दिया गया है। इस रोमान और वास्तव के घोल को भी आँका गया है और इसे एकदम आधुनिक भी कहा गया है। इसे किसी भी कसौटी पर परखा जा सकता है। शमशेर का यह दावा है कि आधुनिक युग की यह सबसे बढ़िया कविता है। इसके बिम्ब और संकेत, शब्द-चित्र और ध्वनि-चित्र, बड़ी गहरी और विविध गूँजें कवि शमशेर की भावनाओं में भर जाती हैं। इस तरह एक कवि का इस कविता पर आशिक हो जाना न केवल कवि के आशिकाना मिज़ाज का परिचय देता है, कविता के अन्दाज़ का भी परिचय दे जाता है। एक और कवि-आलोचक इसे युग की काव्य-परिणति के रूप में आँकते हुए यह कहते हैं कि इसमें शब्द और अर्थ के अलग-अलग हो जाने से असंगत संसार पैदा हो गया है जो कि जितना ही पैशाचिक है उतना ही मानवीय है। मुक्तिबोध के रचना-संसार में मनुष्य और पिशाच का सह-अस्तित्व है। इस कविता का नायक भारत है जिसके मन में बेचैनी है, जो खंडित और व्यग्र है, जिसका शरीर और मन दोनों क्षत-विक्षत हैं, जिसके चेहरे पर इतिहास की झुर्रियाँ हैं, सीने पर गोली के घाव हैं, अन्तरात्मा में विकलता है। श्रीकान्त को खेद इस बात का है कि इसे पहचानने में हिन्दी कविता को पचास साल लग गए। अब इस मनु को पहचाना गया जब देश अँधेरे में जा चुका है। इतिहास के प्रश्न कविता के प्रश्नों में बदल गये हैं।[2] एक कवि और कवि-आलोचक के बाद कविता-आलोचक डॉ० नामवर सिंह कविता की राह से गुज़र कर, कविता के अन्त से सहमत होकर इसे 'परम अभिव्यक्ति की खोज' के धरातल पर आँकते हुए यह कहते हैं कि इसमें अस्मिता की खोज इसका मूल काव्य है जिसे नाटकीय रूप दिया गया है। इस तरह इस कविता के वस्तु-शिल्प को समेट कर आगे इसकी वस्तु और इसके शिल्प का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इसके शिल्प-विधान को नाटकीय कौशल कहा गया है जिसमें मैं दो व्यक्ति-चरित्रों में विभाजित है—एक काव्य-नायक है और दूसरा उसका प्रतिरूप। क्या इसके शिल्प-विधान को **नाटकीय** कहना अधिक संगत होगा या **नाट्यात्मक**—यह अलग सवाल है? क्या काव्य-नायक को आत्म-निर्वासित व्यक्ति कहना अधिक संगत होगा या आत्म-ग्रस्त—यह भी अलग सवाल है। डॉ० रामविलास काव्य-नायक को अपराध-भावना से घिरा हुआ पाते हैं जो आदम की अपराध-भावना से भिन्न है। वह न तो पूरी तरह जनता के साथ है[4] और न ही शोषकों के। इसका हवाला यह है—

विचित्र अनुभव।
जितना मैं लोगों की पाँतें पार कर

---

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है—पृ० २८
२. श्रीकान्त : मुक्तिबोध की सार्थकता—आलोचना-६
३. नामवरसिंह : कविता के नये प्रतिमान—पृ० २३५-२३६
४. रामविलास शर्मा—मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता—२, —धर्मयुग २८ दिसम्बर १९६९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ता हूँ आगे
उतना ही पीछे रहता हूँ अकेला।

उसका अकेलापन डॉ० राम विलास की दृष्टि में अस्तित्ववादी—रहस्यवादी चिन्तन का परिणाम है और डॉ० नामवर सिंह की निगाह में आत्म निर्वासन और मार्क्सवादी चिन्तन में परिणति है। (यदि किसी तरह आज मार्क्स पैदा हो जाते तो वह शायद मार्क्सवादी न होते।) इनकी आलोचना 'अँधेरे में' कविता दो स्तरों पर आँकती है। हर कृति यदि वह कृति होती है अनुकृति नहीं, तो वह अनेक संकेत देने की क्षमता रखती है; लेकिन यदि वह परस्पर विरोधी संकेत देने लगती है तो संदेह होने लगता है कि इनमें कविता बोल रही है या आलोचक अपने बोलने की गवाही दे रहा है। **आत्म कमल** अगर एक को हठयोगी भाषा में रहस्य का संकेत देने लगे और दूसरे को पहाड़ों के पार जाने के लिए जोखिम का तो यह संदेह गहराने लगता है। इसका फैसला कविता के आधार पर ही किया जा सकता है कि यह कविता में क्या-कैसे-किस तरह है, न कि कवि के मन में या आलोचक के मन में। इसे अपने संदर्भ से तोड़ा भी नहीं जा सकता। इसे तोड़कर अपने मन की बात को स्थापित करना उसी तरह होगा जिस तरह वकील किसी गवाह के कथन को उसकी पूरी गवाही से तोड़कर मुकदमा जीतना चाहता हो।

यह लम्बी कविता आठ अंशों में विभाजित है। यदि इसके नाट्यात्मक विधान के आधार पर इनको **दृश्य** भी कहा जाए तो असंगत न होगा। सब दृश्य अँधेरे में जुड़े हुए हैं ताकि इनमें छोटी-छोटी दरारें इसमें नज़र आ सकें। मुक्तिबोध के कवि को उजाले में इतना साफ नहीं दिखता जितना अँधेरे में। इसलिए 'वह' जिन्दगी के अँधेरे कमरे में चक्कर काट रहा है और यह **वह** मैं को दीखता नहीं है। वह कौन है? उसका बड़ा चेहरा दीवाल पर अंकित होने लगता है। यह मनु कौन है जिसका चेहरा पहचान में नहीं आ रहा है। इसकी सूरत 'कामायनी' के मनु से मिलती-जुलती है; लेकिन 'कामायनी' के मनु से केवल शारीरिक स्तर पर ही। इस कविता का मनु मानसिक या संवेदना के स्तर कुछ और हैं। इस तरह कविता फैंटेसी-विधान से शुरू होती है। पहाड़ी के उस पार तालाब के जल से एक सफेद आकृति उभरती है जो मुस्कराकर अपनी पहचान देती है। लेकिन यह भी समझ से बाहर है। यहाँ भी अँधेरा है। इस तरह मुक्तिबोध के कवि की संवेदना अंधकार से घिरी हुई है। इसके बाद तिलस्मी खोह का शिला-द्वार अचानक खुलता है जहाँ एक मशाल घुस कर एक 'रक्तालोक स्नात पुरुष' को उजागर कर देती है जो साक्षात रहस्य है। इस तरह कविता कथात्मक स्तर पर चल रही है। इस रहस्यमय चेहरे को कविता में नहीं कहा जा सका है। यह तनाव कवि-व्यक्तित्व में बना हुआ है। यह 'रहस्यमय रक्तालोक स्नात पुरुष' **वह** है जिसे पाने की तलाश में **मैं** अँधेरे में भटक रहा हूँ। सवाल यह उठ सकता है कि इस बात को सीधे तौर क्यों नहीं कहा गया है, फैंटेसी का रहस्य इस पर क्यों डाला है? इसका जवाब पूरी कविता देगी जिसकी रचना अभी जारी है। मुक्तिबोध के कवि के लिए मानव की रचना और कविता की रचना एक साथ चलती है जिसे सकील भाषा में कवि व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व का संशोधन-रूपान्तर भी कहा जा सकता है। **वह** और **मैं** में जो तनाव है वह दोनों प्रक्रियाओं के मूल में है। **वह** ही साँकल बजाने वाला है। इस समय सूनापन 'सिहरने' लगता है, अँधेरे में अवाज़ों के बुलबुले उभरने लगते हैं और शून्य के मुख पर स्वर की सलवटें पड़ने लगती हैं। क्या इन बारीकियों को उजाले में पकड़ा जा सकता है? यह 'दोपहर के समय का अंधकार' की तरह है। **वह** को **मैं** की सुविधा की बिलकुल परवाह नहीं है। हर समय **वह** इशारे से बता जाता है, समझा जाता है। उसे देखकर मैं में स्नेह उमड़ने लगता है; लेकिन वह को मैं अपनी बाहों में इसलिए कस नहीं पाता—

> **परन्तु भयानक खड्डे के अँधेरे में आहत**
> **और क्षत—विक्षत, मैं पड़ा हुआ हूँ,**
> **शक्ति ही नहीं है कि उठ सकूँ जरा भी**
> **(यह भी तो सही है कि**
> **कमजोरियों से ही लगाव है मुझको)**

इस आत्म-स्वीकार में अपराध-भावना नहीं है, वस्तु-स्थिति का स्वीकार है कि 'बीड़ी पीने' की आदत छूटने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली नहीं है जिसे मैं छोड़ना चाहता हूँ। वह काव्य-नायक को रस्सी के पुल पर चला कर उसे **पार** लगाना चाहता है और यह **पार** छायावादी **पार** नहीं है। मैं की समस्या—'क्या करूं, क्या नहीं करूं' के बीच तनाव की है। एकदम यह आवाज़ उठने लगती है कि भविष्य के नशे को नहीं छोड़ सकता। मैं किसी तरह लड़खड़ाता हुआ दरवाज़ा खोलता है और बाहर झाँकता है और टक से फैंटेसी टूट जाती है और वास्तव नज़र आने लगता है। एक चीख चेतावनी के रूप में काव्य-नायक को सुनने को मिलती है। वह गाँव-शहर निकल गया है, अब नहीं आने वाला है। इसलिए उसे अपने को शोधना है। मैं को समझ में नहीं आ रहा है कि क्या यह सपना था जो टूट गया है। मैं कबीर की तरह अपनी आँखें बन्द नहीं रखता, इन्हें खोलकर देखता कि वह कहाँ है और किस तरह है। यह जागरण टक से फैंटेसी में परिणत हो जाता है ताकि इससे एक जलूस निकाला जा सके जिसे 'मृत-दल की शोभा-यात्रा' कहा गया है। इसमें भाँति-भाँति के लोग शामिल हैं जो फैंटेसी में एक साथ शामिल हो सकते हैं। इसका मकसद और है जिसके अभाव में यह मदारी का खेल बन जाता। इसके माध्यम से वास्तव को उजागर करना है। एकदम टक और सपना छिन्न-भिन्न हो जाता है और भाँत-भाँत के लोग जो अंधेरे में एक साथ थे उजाले में 'मृत' लोग साज़िशें करने वाले हैं—

हाय-हाय। मैंने उन्हें देख लिया नंगा
इसकी मुझे और सजा मिलेगी।

और से बात गहरी हो जाती है। टक से फिर फैंटेसी रचना जिसमें मारशल ला है, दमन है, 'जमाने की जीभ निकल पड़ी है'; मैं का पीछा लगातार किया जा रहा है। इस भीड़ में उसे बरगद का सहारा मिलता है। यह मुक्तिबोध की कविता में बार-बार क्यों आया है—

भयंकर बरगद
सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों,
गरीबों का वही घर वही छत,
उसके तल-खोह-अंधेरे में सो रहे
गृह-हीन कई प्राण।
अंधेरे में डूब गये
डालों में लटके जो मटमैले चिथड़े
किसी एक अति दीन
पागल के धन वे।
हाँ, वहाँ रहता है सिर-फिरा एक जन।

इस तरह आखिरी सतर इस चित्रण को कविता से जोड़ देती है जो मात्र बरगद का संकेत देने के लिए नहीं है। वह सिर-फिरा जाग उठा है और उद्बोधन का गीत गाने लगता है जिसका अनुवाद गद्य में दिया गया है। यह इसलिए कि मुक्तिबोध की कविता में संगीत का निषेध है। इस 'अनुवाद' में मैं अपने से इस तरह के सवाल पूछ कर बुरी तरह अपने को फटकार रहा है—

१. अब तक क्या किया ?
जीवन क्या जिया !!
२. उदरम्भरि बन अनात्म बन गये,
भूतों की शादी में कनात-से तन गये
किसी व्यभिचारी के बन गये बिस्तर
३. करुणा के दृश्यों से हाय : मुँह मोड़ गये,
बन गये पत्थर
४. मर गया देश, अरे, और जीवित रह गये तुम !!
५. लो-हित-पिता को घर से निकाल दिया,
जन-मन-करुणा-सी माँ को हंकाल दिया
स्वार्थों के टेरियर कुत्तों को पाल लिया

इसका नतीजा क्या निकला है—

दुखों के दागों को तमगों-सा पहना
अपने ही ख़यालों में दिन रात रहना
असंग बुद्धि व अकेले में सहना,
जिन्दगी निष्क्रिय बन गयी तलघर।

इस गीत के गद्यानुवाद के बाद मैं अपने को सब कुछ जो हो रहा है इसका कारण ठहराता है। मैं का चैन गया, मैं की नींद गयी; लेकिन अंधेरे में चेहरे की पहचान होने लगती है, महक **गमकने** लगती है। मुक्तिबोध की कविता में भयावने सपने अधिक और सुहावने कम क्यों हैं—इसका जवाब मनोविश्लेषण बेहतर दे सकता है। गुहा-खोह में मैं को जाना पड़ता है, अपने भीतर की तहों में उसे धँसना पड़ता है ताकि 'चमकते रत्न' हाथ लग जाएँ और इनके हाथ लगते मैं को यह भान होने लगता है कि इनका उपयोग जन के हित में इसलिए न हो सका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि ये (विचार) खतरनाक थे। इस तरह कथात्मक और नाट्यात्मक विधान की एक साथ कविता में रचना है। अब दृष्य बदलता है और एक वीरान घंटाघर है जिसकी घड़ी के चार कोण या चार चेहरे हैं जो चार-चार मतियों और दृष्टिकोणों का संकेत देते हैं। इसके गुम्बद की विवर में बूढ़े पंछियों की निगाहें बड़ी तेज़ हैं जो चारों तरफ देखती हैं और भयानक इरादों का संकेत देती हैं। इस तरह एक-एक संकेत वास्तव को उघाड़ने के लिए दिया गया है। मैं कभी अपने भीतर के वास्तव को तो कभी अपने बाहर के वास्तव को उजागर करता चलता है। इनमें तनाव बना रहता है जो संशोधन की प्रक्रिया को जारी रखता है। अब मैं एक सुनसान चौराहे पर है। मैं चौक के बीच में एक 'बन्दूक-जत्था' और 'टैंकों का दस्ता' को देखते ही वहाँ से भाग खड़ा होता है जिसका सजीव-सशक्त चित्रण इस कविता में किया गया है। तिलक की पाषाण-मूर्ति सजीव होने का आभास देती है और उसका भयभीत मन धीरज बाँधने लगता है, उस का संशोधन होने लगता है—

इतने में छाती में भीतर ठक्-ठक्
सिर में है धड़ धड़ !! कट रही हड्डी !!
फ़िक्र ज़बरदस्त !!
विवेक चलाता तीखा-सा रन्दा
चल रहा बासूला
छीले जा रहा मेरा यह निजत्व ही कोई
भयानक ज़िद कोई जाग उठी मेरे भी अन्दर
हठ कोई बड़ा भारी उठ खड़ा हुआ है।

मैं को एक चेहरा नज़र आता है जो सरदी से बचने के लिए एक बोरा ओढ़े हुए है जिसे मैं खूब जान चुका है, पहचान चुका है, लेकिन पा नहीं सका। यह चेहरा गांधी का है जो बिजली के झटके के साथ कहता है—भाग जा, हट जा, हम हैं गुज़र गए जमाने के चेहरे, आगे तू बढ़ जा।' इस तरह मैं परम्परा से जुड़कर आगे बढ़ने की सोचता है। उसे यह चेतावनी मिलती है जिसकी भाषा पुरानी न होकर समकालीन तेवर को लिए हुए है—

दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कट
कोई भी मुरगा
यदि बाँग दे उठे जोरदार
बन जाये मसीहा।

मैं को एक शिशु सौंपा जाता है जो दायित्व को निभाने का संकेत है और जो बार-बार मुक्तिबोध की कविता में दिया गया है और जो रूढ़ि बनने का खतरा मोल ले लेता है। इस कविता में यह शिशु ग़ायब होकर सूरजमुखी फूलों के गुच्छों में बदल जाता है जो चारों तरफ फैल कर दायित्व बोध के व्यापक होने का संकेत दे जाते हैं। दृश्य बदलता है। एक गली में मैं अपने को पाता है और अँधेरी सीढ़ी से खुले कमरे में पहुंचकर यह सोचने लगता है कि वह एक कलाकार था जो कुछ न कर सका और अन्त में वधिकों के हाथ मारा गया। अपने को कोसना भी बेकार साबित हुआ है। अब मैं को खोज उन सहचरों की है जो कुछ कर सकते हैं, सत, चित और वेदना से चमकते हैं। एक बार फिर उसकी काँट-छाँट और छील-छाल होने लगती है, लेकिन औज़ार बदले हुए हैं—

टूटे से स्टूल में बिठाया गया हूं।
शीश की हड्डी जा रही तोड़ी।
लोहे की कील पर बड़े हथौड़े
पड़ रहे लगातार
शीशे का मोटा अस्थि-कवच ही निकाल डाला।

यह इसलिए निकाला गया है ताकि पता चले कि मैं के दिमाग के किस कैमरा में 'तथ्यों के जीवन-दृश्य' उतरते हैं। इस तरह मिस्टर गुप्ता उसके दिमाग का 'स्क्रीनिंग' करते हैं। इस तरह फैंटेसी की रचना में मैं एक पत्र के रूप में मन की फटी जेब में गिर जाता है। इस ख़त का मज़मून साफ है। मैं को अभिव्यक्ति का संकट नज़र आने लगता है और दिमाग में तनाव कसने लगता है और जितना यह कसता जाता है उतना ही अभिव्यक्ति का स्तर उठता जाता है—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।

इसके आगे उन बाहों को संकेत है जिनमें एक 'अरुण कमल' हर पल काँपता रहता है, उसे ले जाने 'झील के हिम-शीत सुनील जल में धँसना ही होगा।' क्या इसे संदर्भ से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोड़कर इसकी हठयोगी मीमांसा करना संगत होगा जिसे किया गया है ? मैं का अकेलापन उसे कचोटता है जब कि अँधेरे में लोग आगे बढ़ रहे हैं । मैं जितना आगे बढ़ता है उतना वह पीछे रह जाता है, लोगों से कदम मिलाकर चल नहीं पा रहा है । इसका एक कारण उसकी 'बौद्धिक जुगाली है । मैं अपने पूँजी से जुड़े दिल को बदल नहीं पा रहा है । इस तरह काव्य-नायक परिणत होकर, आत्म-सजग होकर यह कहने का साहस रखता है जो कमज़ोरी नहीं है—

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूं
वर्तमान समाज में मैं चल नहीं सकता ! !

यह मैं की त्रासदी न होकर, युग-जीवन की त्रासदी है । यह समाज भी चल नहीं सकता । इसलिए 'नगर से भयानक धुआँ उठ रहा है, कहीं आग लग गयी है, कहीं गोली चल गयी है', लेकिन फिर भी—

साथ-साथ घूमते हैं, साथ-साथ रहते हैं,
साथ-साथ सोते हैं, खाते हैं, पीते हैं,
जन-मन उद्देश्य ! !

यह सच है; लेकिन कुछ लोगों की दृष्टि में यह सच नहीं, गप है, मात्र किंवदन्ती है । इन लोगों में साहित्यकार हैं, कवि हैं, चिन्तक हैं, कलाकार हैं जो 'नपुंसक हैं, प्रश्नों की उथली पहचान रखने वाले हैं, राह से अनजान हैं ।' इस तरह बुद्धिजीवियों को व्यंग्य के स्तर पर उतारा गया है और इनका व्यंग्य-चित्रण काफी लम्बा है । क्या मात्र इतना कहने के लिए कविता को इतना तूल दिया गया है ? यदि इतना कहा जाता तो शायद यह संशोधन की प्रक्रिया से टूट कर एक वक्तव्य बन जाता । कविता को अभी फैंटेसी से गुजरना है और कुछ और कहना है । इसमें 'अनहद नाद का कम्पन है' जो हठयोगी या तांत्रिक प्रक्रिया है जो भुलावा देकर नौका को उस पार लगा सकती है ? यह प्रक्रिया तान्त्रिक या रहस्यवादी नहीं है; यह तो कवि-व्यक्तित्व और काव्य-व्यक्तित्व दोनों की नाड़ियों को या ब्रह्म राक्षस के मल को धोने वाली है, संकल्प-शक्ति देने वाली है । यह संकल्प-शक्ति **असाध्य-वीणा की** 'सृजन-शक्ति' और **राम की शक्ति पूजा** की 'शक्ति' से मेल नहीं खाती, न मापिक स्तर पर और न ही संवेदना के स्तर पर—

आत्मा के चक्के पर चढ़ाया जा रहा
संकल्प-शक्ति के लोहे का मज़बूत
ज्वलंत टायर ! !

अब लगता है कि युग बदल गया है (यह तो हमेशा बदलता रहा है, संक्रान्ति की बात किस युग में नहीं होती रही), कहीं आग लग गयी है, कहीं **गोली** चल गयी है (कभी **बाण** छोड़ा गया, कभी **तीर** लग गया तो कभी तुक्का) । इस तरह की आग का लगना और गोली का चलना निजी परिवेश को लिए हुए है जिसे कालहीन या देशहीन नहीं बनाया जा सकता । इस बात को कविता में शायद छह बार दोहराया गया है लेकिन टेक या धुन को रूढ़ि के रूप में नहीं; ताकि इसकी संवेदना को गहराया जा सके ।

एकाएक कविता के नाट्यात्मक विधान में दृश्य बदलता है । **मैं** का सपना टूट गया है, वह फिर अकेला है; लेकिन इस बार उल्लास से भरा हुआ है । यह उसी तरह जिस तरह किसी प्रेयसी ने उसे रात को चूम लिया हो, अपनी बाहों में कस लिया हो । इस तरह के चित्रण में शमशेर को रोमांस की 'सुगन्ध' मिलती है । अब वह उन सपनों के आशय को खोजना चाहता है जिसके अर्थों की पीड़ा उसके मन में घिर रही है । हर अर्थ में दूसरा अर्थ झलकने लगता है । एकाएक **मैं** को **वह** की झलक मिल जाती है और वह—

गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में
चला जा रहा ।
वह जन जिसे मैंने देखा था गुहा में ।

इस झलक से **मैं** का दिल धड़कने लगता है कि उसका मुंह **वह** को पुकारने के लिए खुलता ही है कि इतने में **वह** गायब हो जाता है । इसमें कविता का नाट्यात्मक और फैंटेसी विधान का कौशल छिपा हुआ है । इस **वह** को कविता में **परम अभिव्यक्ति** का नाम दिया गया है जिसका शिष्य **मैं है** और ब्रह्म राक्षस कविता में काव्य-नायक जिसका शिष्य होना चाहता है । इस **होने** और **है** में जो पहले पाट था, या तनाव था वह थोड़ा कम होने लगता है और यह शायद निरन्तर संशोधन-रूपान्तरण की परिणति है । **मैं** ने उसे इस कविता में आखिरी बार एक तिलस्मी खोह में देखा था; लेकिन अब फटेहाल **वह**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत की हर गली में घूम रहा है। इस तरह—

परम अभिव्यक्ति
लगातार घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ
वह है।

इस तरह **मैं** या काव्य-नायक की खोज दिक और काल में जारी है, जीवन के बाहर और भीतर चल रही है—

खोजता हूं पठार······पहाड़······समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मा-सभवा।

इस तरह खोज को उपलब्धि का नाम देना अखरता है, यह आरोपित दृष्टि का परिणाम लगता है। इस लम्बी कविता का अन्त शमन में नहीं होता और न ही मौन में जिसमें एक आलोचक तनाव को खोज निकालते हैं 'जो कहने और कहने में अनकहना है और गहरे स्तर पर आत्मदान का भाव है; जहाँ बोलना मानो आक्रमण है, मौन ही अपने को देना है।'[1] इस कविता के अन्त को न तो 'कामायनी' का 'अखण्ड आनन्द' कहा जा सकता है और न ही 'असाध्य वीणा' का 'मौन'। इस तरह यह कविता काव्य-परम्परा से कट जाने की गवाही देने लगती है। **मैं** और **वह** में जो तनाव है वह एक दूसरे स्तर पर है, इसमें आत्मदान की वह संवेदना नहीं है जो 'असाध्य वीणा' में है या अज्ञेय के काव्य में है। इस तरह यह कविता अज्ञेय की काव्य परम्परा से हट कर समकालीन कविता का संकेत देने लगती है। यह सवाल अलग है जो हर कृति के बारे में उठाया जा सकता है यह कि कहाँ तक कृति है, कैसे और किस तरह है।

मुक्तिबोध की कविता को अधूरी इसलिए भी कहना पड़ता है कि यह पूरा होना नहीं चाहती, किनारे लगना नहीं चाहती। इनकी कविता तट की न होकर मँझधार की कविता है। इस कविता को जब मुक्तिबोध की 'कामायनी' कहा गया है, तो 'कायायनी' के अस्वीकार के रूप में (अगर मैं कामायनी लिखता तो); इसे 'मनु कौन' का जब जवाब कहा गया है तो 'कामायनी' के मनु से हटकर। मुक्तिबोध की कविता के मनु की विकास-यात्रा (संशोधन को) का अन्त हिमालय के आलोक में नहीं होता, गुफा, खोह, बावड़ी आदि के अंधकार में होता है। इसलिए इनकी कविता में भीड़ों का अस्तित्ववादी अकेलापन नहीं है, जलूसों से कट जाने का अकेलापन है, घटनाओं की इतनी भरमार नहीं जितनी वारदातों की है। इन दोनों के तनाव और संवेदना में अन्तर है। अज्ञेय और मुक्तिबोध की कवित में संवेदना का गहरा अन्तर है। एक 'पूरी' लगती है, दूसरी 'अधूरी'; एक उपलब्धि का आभास देती है, दूसरी खोज का, खोज की बात चाहे दोनों में है; एक में आत्मान्वेषण है दूसरी में संशोधन-रूपान्तरण; एक में तराश है, दूसरी में छील-छाल, एक में कविता की रचना है और दूसरी में मानव की रचना और कविता की रचना की प्रक्रिया एक दूसरे से बुरी तरह जुड़ी हुई है। मानव की रचना और व्यक्तित्व की खोज को एक समझना दोनों की कविता से हट कर करना होगा। अगर मानव की रचना अभी अधूरी है तो कविता की रचना किस तरह पूरी हो सकती है। जहाँ तक काव्य-भाषा का सवाल है, दोनों में इसका संस्कार—परिष्कार है; लेकिन तराश की भाषा छील-छाल की भाषा से भिन्न इसलिए है कि वह अनगढ़ है, खुरदरी आदि ही हो सकती है। यह क्यों इस तरह है इसके अपने कारण हैं। अज्ञेय ने जिस तरह छायावाद की 'काव्यात्मक' भाषा से मुक्ति पाने की कोशिश की है, उसी तरह मुक्तिबोध ने अज्ञेय की कुलीन भाषा से निजात पाने की, लेकिन दोनों को कभी-कभी असफलता का मुँह इसलिए ताकना पड़ा है कि दोनों जन्म से ब्राह्मण हैं। संस्कारों को छोड़ना या इनसे छुटकारा पाना कितना कठिन और कठोर

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य की आधुनातन प्रवृत्तियां—पृ० ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, इसका परिचय दोनों की कविता में मिल सकता है। मुक्तिबोध के कवि को प्रायः लंबी कविता की राह पर इसलिए चलना पड़ा है, ताकि वह वास्तव की जटिलता और जटिल की वास्तविकता को पकड़ सके और अज्ञेय के कवि को प्रायः छोटी कविता के रास्ते पर शायद इसलिए चलना पड़ा है ताकि वह मौन के क्षण और क्षण की अनुभूति को कविता में उतार सके। इस निबन्ध के लंबे होने का एक कारण तो यह है कि इसे मुक्तिबोध की लंबी कविता की राह से गुजरना पड़ा है। इसे तूल देने की दूसरी वजह यह है कि इस में पेच कम पड़ सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केदारनाथ सिंह की चार कविताएँ

: १ :

साक्षात्कार

जब मैं वहाँ पहुँचा
तो किसी को नहीं याद था
आज कौन-सी तारीख है
कौन-सी सदी !

सबके जूते
पैरों की अँगुलियों को दाँतों के नीचे रखकर
चबाना भूल गये थे

यह बिलों के भुगतान का समय था
और यह समय था जब शहर में
सूखे हुए कपड़े तह किये जाते हैं

हालाँकि नाई की दुकान पर
मुझे समय के बारे में कोई सूचना नहीं मिली

मैंने देर तक
एक पीली-सी बस का इंतजार किया
और जब समय बीत चुका
तो अपने कोट को उतार कर
कंधे पर रख लिया

अब समय मेरी गर्दन पर रखा हुआ था

मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं हुआ
जब मेरे दन्त-चिकित्सक ने मुझसे कहा
इस समय आदमी की सारी उम्र
सिर्फ इस दाँव पर लगी है
कि सब कुछ खत्म हो जाने के बाद भी
उसके पास थोड़ा-सा मंजन
हमेशा बचा रहे ।

बाहर बारिश हो रही थी
और इस बात के आसार थे कि शहर
किसी भी क्षण
एक मेंढक की उछाल में तब्दील हो सकता है

मैंने उनकी ओर देखा
किनकी ओर
यह नहीं कहा जा सकता
उस धुँधले से कमरे में
एक काली-सी मेज थी
जिसके चारों ओर वे झुके हुए थे

मैंने जोर से कहा
यह
समय
है

और मैंने जो कुछ कहा
वह मेरे घुटनों का सच्चा और खरा
अनुभव था

जहाँ तक मुझे याद है
उस समय मैं
अपने बिस्तरबन्द के बारे में सोच रहा था

बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा
कि एक बिस्तरबन्द को
इतिहास में रख देने से जो लहरें पैदा होती हैं
उनके बारे में सोच रहा था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस जगह के बारे में सोच रहा था
जहाँ मेरी आत्मा
पिछले ३६ घण्टों से
मेरी रीढ़ की हड्डी से रगड़ खा रही थी ।

: २ :

दुश्मन

इक्कीसवें दिन
जबकि मौसम साफ था
और मेरी दाढ़ी बढ़ी हुई थी
मैंने सूरज की ओर देखा
और सिर हिलाया
क्योंकि यही एक काम था
जो उस समय किया जा सकता था

एक केंकड़ा
शहर के दूसरे छोर पर
मेरा इंतज़ार कर रहा था
एक साइकिल
धूप में खड़ी थी
जो साइकिल से ज़्यादा एक चुनौती थी
मेरे फेफड़ों के लिए
और मेरी भाषा के पूरे वाक्य-विन्यास के लिए

मुझे आदमी का चीखना
एक चमत्कार की तरह लगता है
मैंने अपने समय के सबसे मजबूत आदमी को
अँधेरे से कूदकर
एक माचिस के अंदर जाते हुए देखा है

मेरी मुश्किल यह है
कि मैं चीजों को जानता हूँ
जानना
चीजों के खिलाफ
आदमी की मांस-पेशियों का एक लगातार हमला है
जिसके लिये हर बार
एक नये मोर्चे की तलाश करनी पड़ती है

दुश्मन
कहीं दिखाई नहीं पड़ता
रेडियो उसके नाम का जिक्र कभी नहीं करता
रोटी और नमक
सिर्फ दो शब्द मेरे पास हैं
तीसरा शब्द हमेशा उसके पास रहता है

पर कितना अजीब है
कि सारी सुविधाओं के बावजूद
इस समय
टेलीफोन के किसी भी नम्बर पर
उससे सम्पर्क नहीं स्थापित किया जा सकता

एक कुत्ता
जो मुझे देखकर बेतरह भूँक रहा था
मुझे सूँघता हुआ
बस के अड्डे तक मेरे साथ-साथ गया
और उसके बाद हम दोनों
इस बात पर सहमत हो गये
कि आदमी की नंगी पीठ
उसके चेहरे से ज़्यादा दिलचस्प होती है
ज़्यादा तर्क-संगत

मैंने पहली बार जाना
सहमत होना
अपनी खाल से
जिन्दा और साबूत बाहर आ जाना है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

दाँतों की उपयोगिता के बारे में
उनमें कोई मतभेद नहीं है
क्योंकि फलों के खिलाफ
उनके पास कुछ भी नहीं है
सिवा अपने दाँतों के

वे खुली धूप में
पूरे शरीर की व्याख्या करना चाहते हैं

कंधे
अपनी ज़रूरत खोते जा रहे हैं
जबकि बटन
जाँघिया
पहिये और इश्तहार
ये महज शब्द नहीं
जमीन के अंदर बिछी हुई सुरंगें हैं
जिनसे होकर
अपने नाम के पास पहुँचा जा सकता है

हर नाम एक घोंसला होता है
जिसमें कोई चिड़िया अण्डा नहीं देती

वे हत्यारों से मिलना चाहते हैं
और उस भूरी चिड़िया के बारे में
बातचीत करना चाहते हैं
जो शहरों में
पतझड़ के शुरू में दिखाई पड़ती है
और फिर सालभर दिखाई नहीं पड़ती

उनके ख्याल में
खाने और प्रेम करने में कोई विरोध नहीं है
जैसे मछली की गंध
और व्याकरण के नियमों में
कोई विरोध नहीं है

उनके तर्क बिल्कुल साफ़ हैं
वे चीजों को तर्क की तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं

उनके पास कोई सबूत नहीं है
इसलिये वे पूरी सड़क को
सदन के पटल पर रख देना चाहते हैं

उन्होंने अपने बिस्तर पर
अपनी टाँगों को देखा है
अपने साथ सोते और सपना देखते हुए।

: ४ :

रोटी का स्वाद

मुझे दुख है
वह इस समय भी
जबकि मैं आपसे बातें कर रहा हूँ
मेरे दाँतों के नीचे
महसूस हो रहा है

और मुझे दुख है
वह कविता का विरोध नहीं करता
सिर्फ कविता करने
और दाढ़ी बनाने में
जो जरा-सा विरोध बचा रह गया था
उसे खतम कर देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ते हैं

मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष : अपर पक्ष

जगदीश शर्मा

जब कोई समीक्षक मुक्तिबोध के काव्य को आत्मग्रस्त कहता है तो पहली शंका यह होती है कि कहीं वह आत्मग्रस्तता को अंतर्मुखता का पर्याय तो नहीं समझता, दूसरी शंका यह होती है कि मुक्तिबोध की फैंटेसियों के प्रतीकार्थ को समझने में उससे कोई भूल तो नहीं हुई और तीसरी यह कि वह विश्वचेतस् और आत्मचेतस् के ऐकात्म्य-सम्बन्धी अति यथार्थवादी सिद्धान्त को जो मुक्तिबोध को अत्यन्त प्रिय रहा है—भूल तो नहीं रहा ? धर्मयुग में सद्यः प्रकाशित डॉ. रामविलास शर्मा का लेख 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष' पढ़ने पर लगता है कि उनसे उक्त तीनों भूलें हुई हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो लगने लगता है कि मुक्तिबोध के काव्य को आत्मग्रस्त सिद्ध करने के लिए उस पर उन्होंने बलात् अपनी व्याख्याएँ थोपी हैं और इसके लिए मुक्तिबोध की पंक्तियों को उनके संदर्भों से हटाकर उद्धृत किया है तथा सम्पूर्ण रचना की रूपकात्मकता से विरहित कर केवल अभिधा के स्तर पर उनका अर्थ किया है। मुक्तिबोध की कहानियों और 'एक साहित्यक की डायरी' से उनके काव्यार्थ तक पहुँचने के लिए जो सहायता मिल सकती थी उससे लाभ उठाने की चेष्टा भी राम विलास जी ने नहीं की है। यदि कहानियों और 'डायरी' के साक्ष्य को दृष्टिपथ में रखकर कविताओं के कथ्य को पकड़ने की चेष्टा की गई होती तो बहुत संभव है कि वे अनेक पंक्तियां स्वतः निरस्त हो जातीं जिनकी छाया इस लेख पर आद्यंत मँडराती रही है :

समझ में आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो

(ब्रह्मराक्षस)

रामविलास जी के अनुसार मुक्तिबोध मूलतः रहस्यवादी और अस्तित्ववादी कवि हैं। रहस्यवादी इसलिए कि उनकी कविताओं में अनेक स्थानों पर भेद भरी अबूझ अनुभूति झलकने लगती है; अस्तित्ववादी इसलिए कि उनकी कविता अस्तित्व की व्यथा से परिपूर्ण हैं। उन पर मार्क्सवादी प्रभाव भी रामविलास जी ने माना है, किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि मुक्तिबोध रहस्यवाद और अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद का समन्वय करने में असफल रहे हैं। समन्वय के प्रयत्नों की सफलता-असफलता का प्रश्न बाद में उठता है पहले यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या सचमुच मुक्तिबोध रहस्यवादी और अस्तित्ववादी हैं और क्या सचमुच उनका काव्य आत्मग्रस्त है !

यह सच है कि मुक्तिबोध ने अनेक स्थानों पर रहस्याभासी फेंटेसियों की सृष्टि की है, किन्तु यह रहस्याभास केवल प्रतीक स्तर पर रहा है, प्रतीकार्थ तक पहुंचने पर रहस्यावरण उठ चुका है। अधिकांशतः उनकी अवचेतन-सम्बन्धी उक्तियाँ ही रहस्यावृत्त दिखलाई देती हैं। अँधियारा कुआँ, 'जल खोह' 'गुहान्धकार' जैसे शब्द और बिम्ब ही नहीं, कभी-कभी पूरी की पूरी फेंटेसी अनर्गलाभासी एवं रहस्याभिभूत सी दिखाई देती है, किन्तु वह जिस प्रतीकार्थ को वहन करती है उसका धरातल रहस्यात्मक नहीं होता। उदाहरण के लिए 'दिमागी गुहांधकार के औरांग-उटांग' में अवचेतन स्तर पर अवरुद्ध अहं के लिए कवि ने जिस फेंटेसी की सृष्टि की है वह ऊपर से रहस्याविष्ट प्रतीत होती है, किन्तु संकेतित कथ्य को दृष्टिपथ में रखते हुए उनके आधार पर मुक्तिबोध को रहस्यवादी कहने में कोई तुक नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मराक्षस की बावड़ी भी रहस्यात्मकता का आभास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देती है

खूब ऊँचा एक जीना साँवला
उसकी अँधेरी सीढ़ियाँ
वे एक अभ्यंतर निराले लोक की।

किन्तु इन पंक्तियों से संकेतित अवचेतन-लोक विज्ञान-सम्मत अंतरवर्ती क्षेत्र है, कोई आध्यात्मिक रहस्य नहीं। मुक्तिबोध के कहने का ढंग ही कुछ ऐसा है जिसके कारण उनका सीधा-सादा कथन रहस्यावेष्टित-सा प्रतीत होता है। केवल काव्य में ही नहीं, गद्य में भी ऐसा हुआ है। 'क्लाड ईथरली' का पागल खाना इसका अच्छा उदाहरण है। किन्तु जब उसका प्रतीकार्थ उद्घाटित होता है तो सारा रहस्य अनावृत्त हो जाता है। "हमारे अपने-अपने मन-हृदय मस्तिष्क में ऐसा ही एक पागलखाना है, जहाँ उन पवित्र और विद्रोही विचारों और भावों को फेंक देते हैं जिससे कि धीरे-धीरे या तो खुद बदलकर समझौतावादी पोशाक पहन सभ्य भद्र हो जाय, यानी दुरुस्त हो जाय या उसी पागलखाने में पड़ा रहे।"

'सहस्रदल' अथवा 'अन्तर ब्रह्मांड' जैसे योग-साधना मूलक शब्दों का प्रयोग भी रहस्यमूलक अर्थ में नहीं हुआ है। 'एक स्वप्न-कथा' का सम्पूर्ण गतिशील रूपक ऊपरी जड़ता के काले जल को भेदकर अपने अन्तरतम में डूब अपने 'आत्म' —ज्ञान-मणि—को प्राप्त कर उसके बल पर अपनी स्फूर्तियों—अपने भीतर की विद्रोहकारिणी शक्तियों—को उद्बुद्ध करने के लिए किये गये आत्म-संघर्ष की कथा है और उस कथा में 'काला सहस्र-दल' अन्तःप्रबुद्ध नैतिकता का प्रतीक है। इसी प्रकार 'अन्तर ब्रह्माण्ड' भी किसी आध्यात्मिक अर्थ का वाचक न होकर अवचेतन मनोभूमि का प्रतीक है मुक्तिबोध के साहित्य में अवचेतन मनो-भूमि के लिए विविध प्रतीकों का प्रयोग हुआ है जिनमें से कुछ का सम्बन्ध योग-साधना से भी है। क्लाड ईथरली का पागलखाना, ब्रह्मराक्षस की बावड़ी, एक स्वप्न-कथा के समुद्रतल की बस्ती आदि प्रतीक उसी अवचेतन-लोक का अर्थ धारण किये हुए हैं। मुक्तिबोध के अनुसार हमारे स्वार्थ के सेंसर जिन जनोपयोगी भावों और विचारों को चेतन स्तर तक नहीं आने देते वे अवचेतन में फेंक दिये जाते हैं, किन्तु वहाँ भी वे मनुष्य को चैन नहीं लेने देते। ऊपरी जड़ता के भीतर वे निरंतर हल-चल मचाते रहते हैं। 'चम्बल की घाटी' का टीला इसी ऊपरी जड़ता का प्रतीक है जिसके भीतर विद्रोही भाव रूपी रत्न हलचल मचाते हैं।

प्रस्तरीभूत मैं गतियों का हिम हूं,
बीच में ही टूट गया कोई पराक्रम हूं,
चट्टानी टीलों की जमी हुई तह से
दुनिया की पाषाणीभूत सतह से
सामंजस्यों के कठघरे में खुद
संगतिबद्ध ही रहने की है जिद
परन्तु संतुलनात्मक स्थितियाँ
जैसी कि वे हैं
छिः हैं, थूः हैं, हेः हैं।

इसलिए यहाँ टूटने का अभिप्राय आदमी का टूटना नहीं जड़ता का टूटना है। इस प्रकार यहाँ मुक्तिबोध ने यह कहना चाहा है कि शोषण से मुक्ति के लिए जड़ता का टूटना ज़रूरी है जिससे विद्रोही भावों को बाहर आने का अवसर मिल सके। जिस हवा की सहायता से टीले के टूटने की बात कही गई है वह किसी 'अज्ञात लोक' की नहीं है, बल्कि उसी प्रबुद्ध आत्मा-विवेक शक्ति अंतः प्रबोध की प्रतीक है[1] जिसके लिए 'एक स्वप्न-कथा' में 'सहस्रदल' के प्रतीक का प्रयोग किया गया है और जो 'पक्षी और दीपक' कहानी में 'श्यामला' के पात्रत्व के माध्यम से मूर्तित हुई है।

'शहर से दूर खंडहर की तरफ परित्यक्त सूनी बावड़ी' में रहने वाला ब्रह्मराक्षस जन-जीवन से घृणा करने वाली या जनभीत आत्म ग्रस्तता का वाचक न होकर उस अन्तर्वर्ती कट्टर आदर्शवाद का प्रतीक है जो समझौतापरस्ती को किसी भी दशा में स्वीकार नहीं कर सकता। वह जोड़-तोड़ की दुनिया में निभ नहीं पाता और इसलिए 'दशमलव बिंदुओं के सर्वतः पसरे हुए उलझे गणित-मैदान' में मारा जाता है। पाप-छाया दूर करने के लिए उसका देह घिसना और फिर भी मैल का अन्त न आना अस्तित्ववादी पाप-परिताप से भिन्न अभिप्राय का

१. ऐसी है वह हवा, जिसकी हर लहर में आत्मा की सहस्र धाराओं का वेगवान स्पर्श

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाचक है । इसका सीधा संकेत आदर्शवादी चरमता की ओर है:-

अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर
गहन किंचित् सफलता
अतिभव्य असफलता
……अतिरेकवादी पूर्णता
की ये व्यथाएं बहुत प्यारी हैं
ज्यामितिक संगति गणित
की दृष्टि के कृत
भव्य नैतिक मान
आत्मचेतन सूक्ष्म नैतिक मान
……अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना
कब रहा आसान
मानवी अन्तर्कथाएँ बहुत प्यारी हैं ।

मुक्तिबोध के साहित्य में लाभ-लोभ की समझदारी से प्रेरित समझौतापरस्ती के विरुद्ध उत्कट आदर्शवादी स्वर व्यापक रूप से सुनाई देता है, ब्रह्मराक्षस भी उसी भावना का प्रतिनिधित्व करता है । 'क्लाड ईथरली' 'पक्षी और दीपक' तथा 'एक लम्बी कविता का अन्त' के साक्ष्य पर यही कहा जा सकता है ।

आदर्शवाद ही वह बिन्दु है जहाँ वस्तुगत मूल्य-चेतना आत्तगत विक्षोभ में परिणत हुई है और जहाँ विक्षोभ और विद्रोह का सम्मिलन हुआ है । 'एक साहित्यिक की डायरी' में लेखक ने समकालीन मूल्य-विगलन की चिन्ता बड़े दर्द भरे स्वर में की है । उनकी मुख्य-मुख्य कहानियों के द्वन्द्व का मूल भी यही समसामयिक मूल्य- विघटन रहा है । गगन भेदी नारे अवश्य ही उनके काव्य में सुनाई नहीं देते, किन्तु जन-चेतना (विश्वचेतस्) का उद्वेलन उनके साहित्य में अधिकांशतः अन्तर्व्याप्त है । उनकी कविताओं में 'आत्माध्यक्ष की हत्या' और 'चेतनाध्यक्ष के खून' की जो चर्चा सुनाई देती है वह आत्मग्रस्त अनुभूति की परिचायक न होकर उस विवेक शक्ति की ओर इंगित करती है जो मनुष्य को स्वार्थों की बलि देकर जन-हित के मार्ग पर अग्रसर करती है । लाभ-लोभ की समझदारी की प्रेरणा से लोकहित को भूल कर समझौता परस्ती का मार्ग अंगीकार करना ही 'आत्माध्यक्ष की हत्या' और 'चेतनाध्यक्ष का खून' है क्योंकि,आत्मा विप्लवकारिणी आंतरिक शक्तियों की सरगना है :

तलघर अन्दर
छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो
जहाँ कि चुपचाप खयालों के परचे
छापते रहते हैं, बाँटे जाते ।
इस संस्था के सेक्रेटरी को खोज निकालो
शायद उसका ही नाम हो आस्था
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा ? (अँधेरे में)

'अँधेरे में' कविता में भी 'आत्मसंभवा' अभिव्यक्ति के दुर्निवार दबाव की कथा कही गई है । अभिव्यक्ति का भीतरी दबाव समय-असमय या सुविधा-असुविधा नहीं देखता । वह कवि को विद्रोह के संकटपूर्ण दायित्व-बोध की खतरनाक उँचाइयों पर जा बिठाता है । कवि उसे टालने की बहुत कोशिश करता है, किन्तु अभिव्यक्ति का दबाव है कि पीछा ही नहीं छोड़ता क्यों कि वह कोई वाह्य सत्ता नहीं, कवि के अपने भीतर की सक्रिय शक्ति है जिसे उसने अपनी सुविधा के विचार से समझौतापरस्ती के निमित्त मन के भीतरी प्रकोष्ठ (अवचेतन) में धकेल दिया है, लेकिन उस स्थिति में भी वह बार-बार साँकल बजाता है और लेखक को चैन नहीं लेने देता :

भूमि की सतहों के बहुत नीचे
अँधियारी एकान्त
प्राकृत गुहा एक ।
विस्तृत खोह के साँवले तल में
तिमिर को भेदकर चमकते हैं पत्थर
मणि तेजस्क्रिय रेडियो एक्टिव रत्न भी बिखरे
झरता है जिन पर प्रबल प्रपात एक
× × ×
पाता हूं अकस्मात
दीप्ति में वलयित रत्न वे नहीं हैं
अनुभव, वेदना, विवेक, निष्कर्ष
मेरे ही अपने यहां पड़े हुए हैं
विचारों की रक्तिम अग्नि के मणि वे
प्राण-जल-प्रपात में घुलते हैं प्रतिपल
× × ×
हाय, हाय मैंने उन्हें गुहावास दे दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक-हित क्षेत्र से कर दिया वंचित
जनोपयोग से वर्जित किया और
निषिद्ध कर दिया
खोह में डाल दिया।

यह द्वन्द्व आत्मपरक स्वर में व्यक्त किया गया है, किन्तु कवि के इस आत्म-संघर्ष को व्यक्तिगत संघर्ष मानना उचित नहीं होगा। कवि ने जिस दुविधाग्रस्त बौद्धिकता को आत्मालोचन के स्वर में प्रकट किया है, वह वस्तुतः आत्मालोचन न होकर वस्तुस्थिति का आकलन ही है। 'डायरी' और कहानियों में उन्होंने समसामयिक स्थिति का जो उद्‌घाटन किया है उसके प्रकाश में उनकी कविताओं का विश्लेषण करने पर इस सम्बन्ध में कोई शंका नहीं रह जाती। 'क्लाड ईथरली' में जनानी शख्सियत वाले, पेट और प्रवृत्ति के समन्वय, सी. आई. डी. के पात्रत्व के माध्यम से उन्होंने इसी बौद्धिक अकर्मण्यता को उद्‌भासित किया है; 'पक्षी और दीमक' के नायक में भी यही दुविधा-ग्रस्त मनः स्थिति सम्मूर्तित है; 'विपात्र' के विद्याकेन्द्र के वातावरण में चतुर्दिक यही किंकर्तव्यविमूढ़ता गूँज रही है और 'अँधेरे में' कविता में रूपायित कवि का संकट उसी वस्तुगत द्वन्द्व-स्थिति का आत्मगत रूपान्तरण है।

जिसे मुक्तिबोध का 'आत्म' समझा जाता है, वह वस्तुतः एक जटिल चेतना-निर्मिति है जिसमें बाहर का बहुत कुछ अन्तरंग चेतना-तत्वों में घुलमिलकर उनके साथ एकाकार हो गया है। उनके 'आत्म' के भीतर बाह्यबोध के साथ उनकी अपनी अन्तरंग चेतना भी अन्तर्भुत है। विश्व-वेदना उनकी आत्म-वेदना में ढल गई है और प्रत्येक स्थिति में उनका दायित्व-बोध अक्षुण्ण रहा है। उनका व्यक्तिगत संत्रास बाह्यजगत् की विक्षोभकारी स्थितियों से जुड़कर विद्रोह के लिए बेचैन हो उठा है। फलतः उनकी काव्य-संवेदना में विश्वचेतस् और आत्मचेतस् की एकाकारता के भीतर संत्रास की विद्रोहमुखी परिणति हुई है। कदाचित् इसीलिए उनके काव्य में संत्रास-सूचक काले रंगों के प्राधान्य के साथ ही विद्रोह-सूचक अग्नि-सम्भूत प्रतीकों और रक्त-प्लावन का प्राचुर्य दिखलाई देता है।

मुक्तिबोध ने भयानक नैराश्य, ग्लानि और वैफल्य को अपने भीतर भोगा था और इसलिए उनके अस्तित्व की सचाई को नकारने का दम्भ उनके साहित्य में दिखलाई नहीं देता। इसके विपरीत इन भावनाओं को उनकी स्वीकृति मिली है, फिर भी उन्होंने अपने ऊपर कुंठाओं का आधिपत्य नहीं माना है: "कुंठा का आधिपत्य तो तब समझना चाहिए, जब कुंठा के बुनियादी कारणों को दूर करने की बेसब्री और विक्षोभ न हो।" ('डायरी' पृ० ४८)

यद्यपि उनके साहित्य में प्रलय मचा डालने वाली घनघोर क्रान्ति-गर्जना सुनाई नहीं देती, फिर भी इस सत्य को कैसे भुलाया जा सकता है कि उनके पाठक के लिए 'अभ्यन्तर के प्रबोधकारी अग्नि-सरोवर' में अवगाहन करना अपरिहार्य हो जाता है। वैषम्य की चेतना से उद्‌भूत विक्षोभ उनके भीतर से फूटा है। इसलिए उनकी रचनाओं में प्रगतिवादी गर्वोक्तियों के स्थान पर अन्तरंग अनुभूतियों का विस्फोट हुआ है। इससे अधिक का दावा न तो मुक्तिबोध करते हैं न उनका कोई ईमानदार समीक्षक। लेकिन इतना भी कम नहीं है। 'डायरी' में उन्होंने अपने कल्पित कलाकार मित्र के मुख से कहलवाया है: "आसमान का चित्रण सधे न सधे, सामने के मैले डबरे में सूरज के बिम्ब का चित्रण करना चाहिए, शायद वह मेरे जीवन-सत्य के अधिक निकट होगा। उतना चित्रण मुझसे सध भी जाएगा।" (पृ० ४९)

निस्संदेह यह एक अन्तर्मुख साहित्यकार का स्वर है, आत्मग्रस्त साहित्यकार का नहीं इसमें बाह्य बोध की संवेदनात्मक परिणति की स्वीकृति है, किन्तु कहीं भी ऐसा दिखलाई नहीं देता कि वे वस्तु-जगत् से पलायान कर अपने में सिमट कर रह गये हों। इसके विपरीत उन्होंने अनेकशः 'ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान' की चर्चा की है जो व्यक्ति-चेतना और वस्तु-सत्य की अन्तःक्रिया को मान देती है। यह दृष्टि परिवेश और व्यक्ति, वस्तुगत मूल्य और अन्तर्वर्ती चेतना, विश्वचेतना और अन्तः प्रसूत संवेदना के अविच्छेद्य सम्बन्ध की स्वीकृति है। फलतः उनकी काव्य-संवेदना के साथ मूल्य-भावना अनायास ही एकान्वित हो गई हैं और उनके अन्तः जगत् में उद्वेलित विक्षोभ के साथ दायित्व-चेतना के योग के परिणामस्वरूप उनके कृतित्व में आत्मग्रस्तता के लिए कोई अवकाश नहीं रह गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेबिल

विष्णु खरे

उन्नीस सौ अड़तीस के आसपास
जब चीज़ें सस्ती थीं और फर्नीचर की दो-तीन शैलियाँ ही प्रचलित थीं
मुरलीधर नाज़िर ने एक फोल्डिग टेबिल बनवायी
जिसका ऊपरी तख्ता निकल आता था
और पाए अन्दर की तरफ़ मुड़ जाते थे
जिसपर उन्होंने डिप्टी कमिश्नर जनाब गिल्मोर साहब बहादुर को
अपनी ख़ास अँगरेज़ी में अर्जियां लिखीं
छोटे बाज़ार की रामलीला में हिस्सा लेने वालों की पोशाक
चेहरों और हथियारों का हिसाब रखा
और गेहुँए रंग की महाराजिन को मुहब्बतनामा लिखने की सोची
लेकिन चूँकि वह उनके घर में ही नीचे रहती थी
और उसे उर्दू नहीं आती थी
इसलिए दिल ही दिल में मुहब्बतनामे लिख-लिखकर फाड़ते रहे
और एक चिलचिलाती शाम न जाने क्या हुआ कि घर लौट
बिस्तर पर यूँ लेटे कि अगली सुबह उन्हें न देख सकी
और इस तरह अपने एक नौजवान शादीशुदा लड़के
दो जवान अनब्याही लड़कियों
बहू और पोते को
मुहावरे के मुताबिक रोता-बिलखता लेकिन असलियत में मुफ़लिस
छोड़ गए।

टेबिल, जिस पर नाज़िर मरहूम काम करते थे
और जो करीब-करीब नई थी
मिली उनके बेटे सुन्दरलाल को
जिनका एकमात्र सपना डॉक्टर बनने का था, उस बच्चे का बाप नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसे असमय ही उनकी घरवालों ने उन पर थोप दिया था
ज़माना हुआ मन्दी का, नौकरी मिलती नहीं थी
किसी ने जँचा दिया मिलटरी की अस्पताली टुकड़ी में भर्ती हो जाओ
वहाँ डॉक्टर बना देते हैं
सो वे हो गए दाख़िल मेडिकल कोर में
और बर्मा फ्रन्ट पर एकाध बार चोरी छुपे घायल हुए
और भेजा अपनी घरवाली रामकुमारी को एक रोबीला फोटो
जिसे रखा रामकुमारी ने टेबिल पर
और पालती रहीं तपेदिक बलग़मी रातों में
(ननदों में से एक बैठ गई हलवाई के घर
और दूसरी मर गई जिस तरह देर तक अनब्याही जवान लड़कियाँ
मर जाती हैं अचानक)
रखती रहीं फूल और ऊदबत्ती और उपास
और वह हारमोनियम भी वहीं रखा
जो कलकत्ते से मंडाले जाते वक्त भिजवाया था सुन्दरलाल ने
और जिसे लेने
रामकुमारी बच्चे के साथ गई थीं पहली और आखिरी बार रेलवे माल गोदाम
और पहली और आखिरी बार ही बैलगाड़ी पर
बैठकर आई थीं घर उसे छुड़वाकर ।

(ज़ाहिर है) बड़ी लड़ाई के दर्म्यान और बावजूद
टेबिल बमय हारमोनियम और फोटो उसी कोने में खड़ी रही
और छँटनी के बाद भूतपूर्व जमादार सुन्दरलाल मेन्शन्ड इन डिस्पैचेज़
जब वापस आए तो टेबिल पर पड़ी अपनी तस्वीर
और बिस्तर पर रामकुमारी को देखकर
उन्होंने उस तरह अपना चेहरा सिकोड़ा
जिसे बर्मा के जंगलों में मुस्कराहट समझने की उनकी आदत पड़ गई थी
और कहा——अच्छा ।

लेकिन कुछ भी (जिसमें रामकुमारी भी शामिल थीं)
अच्छा नहीं हुआ और
विधुर सुन्दरलाल ने, जिनका विश्वास भावनाओं के
भद्दे प्रदर्शन में नहीं रह गया था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना फोटो तो टेबिल से हटा ही लिया
साथ ही रामकुमारी की भी तस्वीर उस पर नहीं रखी
क्योंकि कोई थी ही नहीं । फिर एक वाजिब अंतराल के बाद
वे बैठे टेबिल पर अर्जियाँ लिखने
और बेकारी, बेगार, क्लर्की और मास्टरी से गुजरते हुए
हेडमास्टरी को हासिल हुए
और उसी टेबिल पर केरल के ज्योतिषी को जन्मपत्री की नकलें
शिक्षा-उपमंत्री को सुझाव,
हाई स्कूल बोर्ड के सेक्रेटरी को इम्तहान की रिपोर्ट
संभाग शिक्षा निरीक्षक को तबादले की दलीलें
और मातहतों की कॉन्फिडेन्शियल लिखते हुए
(और यह सब करते वक्त एक असंभव तथा करुण आवाज़ निकालते हुए
जिसे वे अलग-अलग समयों पर अलग-अलग शास्त्रीय राग
के नाम से पुकारते थे)
पचास वर्ष की अपेक्षाकृत अल्पायु में एक सरकारी अस्पताल में मरे
और अपनी विधुर गिरस्ती का सामान टेबिल समेत
छोड़ गए ।

अपने बेटे को जो अब बड़े शहर में
गंजा और भद्दा होता हुआ एक मँझला अफसर था
और जो बाकी सामान को ठिकाने लगा
सिर्फ टेबिल, चूँकि वह फोल्डिंग थी और आसानी से ले जाई जा सकती थी,
साथ ले आया
और जब फर्नीचर वाले ने कह दिया कि वह तो बहुत पुरानी हो चुकी है
और उस पर सनमाइका लगवाना भी बेकार है
तो उसने उस पर गैरजरूरी किताबें, पुराने ख़त, बेकार दवाइयाँ और कंपनियों के सूचीपत्र,
टूटे और गुमे हुए तालों की चाबियाँ, जापानी दूरबीन
और टाइपराइटर की घिर्रियाँ रख दीं
जिनमें उसकी तीन बरस की लड़की की जायज और भरपूर दिलचस्पी थी
और जो टेबिल के पायदान पर खड़ी होकर
उसी तरह इस आश्चर्य लोक को फैली आँखों से देखती थी
जिस तरह चौबीस बरस पहले
यह गंजा और तुंदियल होता हुआ मँझोला अफसर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उझककर झाँकता था उस आइने में
जिसमें सुन्दरलाल बाएँ गाल को जीभ से उभारकर
दाढ़ी बनाते हुए भैंगे होकर देखते थे
(नाक के तीखेपन और जबड़े की लम्बाई में मरहूम मुरलीधर
का असर पहचानते हुए)
और टेबिल के हिलने की वजह से
वह थोड़ा-थोड़ा हिलता था ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध शुद्ध प्रगतिवादी थे

जगदीश कुमार

आमतौर पर 'आब्स्क्योर' कहलाने वाले मुक्तिबोध को मन-माने ढंग से उछालने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए सुविधानुसार अस्तित्ववादी, रहस्यवादी, भीड़-भाव का विरोधी आदि विशेषण भी उनके काव्य पर आरोपित किये गये हैं। इन आरोपयित्री प्रतिभाओं की मूल प्रेरणाएँ क्या रही हैं, यह तो मैं नहीं जानता परन्तु मुक्तिबोध के उपलब्ध कृतित्व को एक साथ देखने के बाद इन विशेषणों का कोई तथ्यात्मक आन्तरिक आधार मुझे नहीं मिला। मेरे विचार में मुक्तिबोध के कृतित्व की मूल प्रेरणा प्रगतिवादी रही है। उनके गद्य साहित्य में इस धारणा का पोषण करने वाले अनेक विचार-सूत्र सर्वत्र गुँथे हुए हैं। उदाहरणार्थ एक निबंध में उन्होंने ऐसे जीवन-दर्शन की आवश्यकता पर बल दिया है जिसमें कम से कम "वे बुनियादी बातें तो हों जिन्हें जन-साधारण अपने हृदय में अनुभव करते हैं जैसे अन्याय का प्रतिकार, मानव-साम्य की स्थापना के प्रयत्न, विकृत स्वार्थवाद और भ्रष्टाचार का विरोध, सामाजिक संबंधों में प्रेम और त्याग की भावना, अहंकार की उग्रता का विरोध, अपने घर में सोफ़ा-सेट रखने के लिए बुद्धि को बेच देने तथा धन द्वारा बुद्धि के खरीदे जाने का विरोध, समझौतापरस्ती के खिलाफ कड़ाई और साधारण भारतीय जनमत के प्रति भक्ति और अनुराग।"

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ० १८४)

गद्य में उपलब्ध इस प्रकार के विचार-सूत्रों का काव्य में विरोध तो कहीं नहीं है (और आत्मचेतस कलाकार के कृतित्व में ऐसे आत्म-विरोध या सभ्य भाषा में 'आत्म-संघर्ष' की संभावना हो भी नहीं सकती) परन्तु मानव-मात्र की स्वभावगत आत्मलिप्ति को वैयक्तिक धरातल पर अतिरंजित रूप में चित्रित कर देने के कारण कुछ लोगों को भ्रम में पड़ने या भ्रम खड़े करने का अवसर अवश्य मिल गया है। ऐसे लोगों को मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया का वह रूप समझना चाहिए जिसके अनुसार "सामान्य के प्रवाह में बह कर उसका विशिष्ट आमूलाग्र बदल जाता है।" (उप०, पृ० ५) उदाहरण की आवश्यकता हो तो 'चम्बल की घाटी में' शीर्षक कविता देखी जा सकती है। इस रूपक-कथा को शुद्ध आत्माभिव्यक्ति मानते ही शैतान, मुक्ति की चाह, पुण्य-चेतना का बध, अज्ञात लोक की हवा आदि कल्पनाओं का ताँता बँध जाता है और बेचारे टीले को आधा अस्तित्ववादी, आधा रहस्यवादी बनना पड़ता है जबकि वस्तुतः वह उन लोगों का प्रतिनिधि है जो दुष्ट सत्ता से समझौता करके भी व्यक्तिगत पाप-भावना से पीड़ित रहते हैं। 'क्लाड ईथरली' में स्वयं कवि ने इस तथ्य की पुष्टि की है। उसी के शब्दों में "ऐसे बहुतेरे लोग हैं जो पापाचार रूपी, शोषण रूपी डाकुओं को अपनी छाती पर बैठा समझते हैं।···(ऐसे) लोगों के अन्तःकरण में व्यक्तिगत पाप-भावना रहती है, रहनी चाहिए।" स्पष्ट है कि कवि के समग्र कृतित्व को ध्यान में न रखने से ही उसकी कविताओं का मर्म समझने में भूलें हुई हैं। मैं ऐसी भूलें नहीं दोहराऊँगा, क्योंकि कवि-व्यक्तित्व की आनुमानिक आकृति उपस्थित करने के लिए मैं मुक्तिबोध का यह अनुबन्ध स्वीकार करता हूँ कि "हम उसकी सब रचनाओं को देखें।"

मुक्तिबोध ने जीवन-मूल्यों का चयन करने के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या मार्क्सवाद की विश्वदृष्टि को स्वीकार किया था। उन्हीं के शब्दों में, मार्क्सवाद 'यथार्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास का, मानव-संज्ञा के विकास का दर्शन है।' मानव-संज्ञा के विकास का यह प्रत्यय 'एक आत्म-वक्तव्य' का केन्द्र बिन्दु है। लगातार चलने वाली काट-छाँट, छील-छाल के कारण कवि की मूर्ति 'अनबनी, अधबनी' रहती है और पूरे बने हुओं के ठाठदार अक्स उसे विदेशी दिखाई देते हैं। 'चकमक की चिनगारियाँ' में उसकी कविता कहीं भी खतम होती नज़र नहीं आती। 'अँधेरे में' पूर्णाभिव्यक्ति की अन्तहीन तलाश का मूल कारण भी व्यक्तित्व की गतिमयता का उपर्युक्त विश्वास ही है। कवि ने गद्य में यह विश्वास इस प्रकार व्यक्त किया है—'लक्ष्य और उपलब्धि के बीच जो फासला है, वह आतुर मन के लिए बराबर बना रहता है, क्योंकि लक्ष्य स्वयं गतिमान है, मनुष्य की अपनी गति ही के कारण।' (उप०, पृ० १२१)

मार्क्सवाद ने कुछ विशिष्ट मूल्यों को ऐतिहासिक संदर्भों और वर्गसंदभों के आधार पर अयथार्थ या अस्वीकार्य घोषित कर दिया था। मुक्तिबोध के काव्य में इस यथार्थ-ग्रह और अस्वीकार का स्वर बड़ा स्पष्ट और प्रखर है। उदाहरणार्थ अध्यात्मवाद, व्यक्तिवाद, पूंजीवाद और अस्तित्ववाद का खण्डन करने वाली रचनाएँ देखी जा सकती हैं। 'एक अरूप शून्य के प्रति' शीर्षक कविता में ईश्वर को असत्य घोषित किया गया है। ईश्वर का अस्तित्व नकारने वाले कवि का बहुधा-प्रयुक्त आत्मा शब्द भी कोई रहस्यात्मक संकेत नहीं दे सकता। एक निबन्ध में कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि 'हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है।' (उप०) 'प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, से प्रकाशित 'ए डिक्शनरी आफ फिलासफी' में भी 'सोल' को 'साइके' का पर्याय तथा 'साइके' को सामाजिक-ऐतिहासिक संबंधों की देन बताया गया है। जब आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, तो आध्यात्मिक मुक्ति की चाह का प्रश्न नहीं उठता। इसलिए मुक्तिबोध को जिस मुक्ति की चिंता है, वह आध्यात्मिक न होकर भौतिक है :

समस्या एक—
मेरे सभ्य नगरों में और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुन्दर व शोषणमुक्त
कब होंगे ? —चकमक की चिनगारियाँ

जन मुक्ति के इस आदर्श को व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त छल नहीं सकता—

स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,
जन को। —अँधेरे में

पूंजीवादी सभ्यता के प्रति मुक्तिबोध का दृष्टिकोण पूर्णतया मार्क्सवादी रहा है। 'पूंजीवादी समाज के प्रति', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' आदि कविताएँ इस तथ्य की पोषक हैं। पूंजीवादी समाज में पले दार्शनिकों और बुद्धिजीवियों की थोथी सिद्धान्तवादिता पर भी जगह-जगह व्यंग्य किये गये हैं क्योंकि 'रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब नपुंसक भोग-शिराजालों में उलझे' रहते हैं।

मार्क्सवाद के साथ अस्तित्ववाद की भी पटरी नहीं बैठती क्योंकि वह व्यक्तिवादी भी है और अबुद्धिवादी भी। इसीलिए मुक्तिबोध ने अस्तित्ववादियों को बनावटी दार्शनिक कहा है :

मत बनो दार्शनिक बनावटी
तुम क्या हो, कैसे हो, क्यों हो
इसका उत्तर
टीन के कनस्तर ही देंगे।

—इस चौड़े ऊँचे टीले पर

यहाँ तक तो आलोच्य कवि के दार्शनिक चिंतन की बात हुई परन्तु उसके प्रेरणा स्रोत मार्क्सवाद में कोरे बुद्धि-विलास का कोई महत्व नहीं है क्योंकि वह सामाजिक आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया अर्थात् क्रान्ति पर अधिक बल देता है। मुक्तिबोध इस बात से भली-भाँति परिचित थे। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में प्रसाद के सामरस्य सिद्धान्त की आलोचना मुख्यतः साम्योपलब्धि की वैज्ञानिक प्रक्रिया के आधार पर ही की गयी है। वे स्वयं मार्क्सवादी प्रक्रिया में निष्ठा रखते थे। इसीलिए उन्होंने युगान्तकारी आस्थाओं के अक्षयवट की छाया-तले खड़ी हुई

स्वनामधन्या
वेगवान पीड़ा की कन्या
भव्य कर्मनिष्ठो जन-जन्या

के दर्शन किये। इस कर्मनिष्ठा जन-जन्या क्रान्ति की आग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भारत में भभकाने के लिए कवि चिंतित दिखाई देता है :

मेरे सामने है प्रश्न,
क्या होगा कहाँ, किस भाँति,
मेरे देश भारत में
पुरानी हाय में से
किस तरह से आग भभकेगी,
उड़ेंगी किस तरह भक् से
हमारे वक्ष पर लेटी हुई
विकराल चट्टानें ?

—चकमक की चिनगारियाँ

इस क्रान्ति के लिए जो-जो निमित्तोपादान उपयोगी हैं, उनका चित्रण मुक्तिबोध ने विस्तार से किया है। मार्क्सवादी क्रान्ति हिंसात्मक होती है, इसलिए कवि 'नाश देवता' की वन्दना करता है और यह मानता है कि 'बिना संहार के सर्जन असंभव है।' इस उग्र क्रान्ति की निन्दा उसे असह्य है :

लावा कह कर निंदा करके
कोई उसको रोक न सकते
वह भवितव्य अटल है
उसको अँधियारे में झोंक न सकते ।

—कल जो हमने चर्चा की थी

अहिंसात्मक हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त उसे स्वीकार नहीं है क्योंकि पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता।

नाश-देवता के समान जन देवता भी कवि के लिए आदरणीय है :

मेरी असंग स्थिति में चलता फिरता साथ है,
अकेले में साहचर्य का हाथ है,
उनका जो तुम्हारे द्वारा गर्हित हैं
किन्तु वे मेरी व्याकुल आत्मा में बिम्बित हैं,
पुरस्कृत हैं

—मैं तुम लोगों से दूर हूँ

क्रान्ति के लिए सर्वाधिक मूल्यवान् तत्व है—बलिदान की भावना। क्रान्तिकारियों को सुविधाएँ त्याग कर खतरे उठाने होंगे। बलिदान जैसी आदर्श एवं स्वार्थ-सुखेच्छा जैसी निम्न भावनाओं के द्वन्द्व ने मुक्तिबोध की मूल-गलती, एक अन्तर्कथा, इस चौड़े ऊँचे टीले पर, चम्बल की घाटी में, जैसी अनेक रूपक-कथाओं को जन्म दिया है। इस द्वन्द्व के चित्रण में कवि ने उपचेतन की समस्त संभावनाओं का उपयोग तो किया है, परन्तु सिद्ध-अन्त के रूप में नहीं, अपने आदर्श के अनुकूल ढाल कर। उसके उपचेतन की अन्धेरी खाइयों में दमित-वासनाओं के भूत ही नहीं रहते। वहाँ ईमान हमारी हार का बदला चुकाने के लिए ताकत बटोरता रहता है और आदर्शों के क्वार्टज छिपे रहते हैं। कवि इन शक्तियों की खोज के लिए ही उपचेतन की अंधी गलियों में खाक छानता है। कवि की इस आदर्शासक्ति के कारण ही द्वन्द्व मुक्त वर्णनात्मक कविता 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' में बलिदान का उच्चादर्श प्रस्तुत किया गया है।

बलिदान की भावना को उद्बुद्ध, उद्दीप्त और परिपक्व करने वाली सामग्री भी प्रचुर मात्रा में जुटाई गयी है। न्याय-चेतना और करुणा जैसी सद्वृत्तियाँ त्याग-भावना को उद्बुद्ध करती हैं। न्याय-चेतना को छूने के लिए कवि ने प्रश्नात्मक, आत्मालोचनात्मक और व्यंग्यात्मक शैलियों का उपयोग किया है। इन शैलियों में कवि आत्म-लिप्त व्यक्तियों की कर्मोपेक्षा का दुष्परिणाम दिखा कर उत्तर-दायित्व का भाव जगाता है। 'अँधेरे में' कवि आत्मा-लोचन करता हुआ सोचता है :

गलियों में अन्धकार भयावह-
मानो मेरे कारण ही लग गया
मार्शल-लॉ वह

न्याय-चेतना स्वार्थ से हटाती है और करुणा परोप-कार में प्रवृत्त करती है। मुक्तिबोध कल्याणमयी करुणा को व्यक्तित्वान्तरकारी शक्ति मानते थे। इसीलिए वे कहते हैं कि वेदना-नदियों का जल पीकर

मेरे युवकों में होता जाता व्यक्तित्वान्तर
विभिन्न क्षेत्रों में कई तरह से करते हैं संगर

अँधेरे में

इसी करुणा को जगाने के लिए प्रगतिवादी कलाकार जन-जन के दुखों का वृहत् चित्र सामने लाते हैं। मुक्तिबोध ने भी इस फार्मूले की उपेक्षा नहीं की। सूखे बबूलों और भूखे बालकों के भारत की याद उसे भी आती है :

जहाँ सूखे बबूलों की कँटीली पाँत
भरती । हृदय में धुन्ध-डूबा दुःख,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूखे बालकों के श्याम चेहरों साथ
मैं भी घूमता हूँ शुष्क,
आती याद मेरे देश भारत की ।

—चकमक की चिनगारियाँ

त्याग भावना को उद्दीप्त करने के लिए कवि ने बलिदानी वीरों और विशेषतः नवयुवकों के चित्र खींचे हैं। इन चित्रों में कभी-कभी तिलक और गाँधी जैसे कर्मवीरों की झलक भी मिल जाती है परन्तु स्वार्थियों द्वारा किये गये उनके दुरुपयोग की ऐतिहासिक चेतना से कवि श्रद्धावनत नहीं हुआ है। करुणावतार महात्मा बुद्ध तो मात्र एक स्तूप हैं, जिसमें

मानव के सपने
गड़ गये, गाड़े गये ।

—चाँद का मुँह टेढा है

त्याग-भावना को परिपक्व या स्थायी बनाने के लिए आस्था, स्वप्न, संकल्प और मैत्री का अवलम्ब लिया गया है। आस्था का प्रतीक प्रायः वट या अक्षय वट रहा है, जिसे देखकर कवि कहता है :

ओ अक्षयवट, यदि तुम न रहे होते
मेरी इन गलियों में
तो अन्धकार के सिंधु-तले
पानी के काले घर के नीचे कीचड़ में
अज्ञान ह्वेल की प्रदीर्घ भीषण ठठरी-सा
मैं कहीं पड़ा होता सूने में
किसी चोर की ठठरी-सा
रह अँधकार के ग्रूसे-सा
निशि-वृषभ-गले !!

—मेरे सहचर मित्र

भविष्य के इच्छा-पूर्त्यात्मक स्वप्न देखना इस कवि को बहुत प्रिय रहा है। 'पता नहीं' में वह कमलोत्पन्न शक्ति पुरुष के आविर्भाव की स्वप्न रचना करता है। 'अँधेरे में' भारत की उग्र क्रान्ति का एक लम्बा स्वप्न उसने देखा है, जिसकी स्मृति भी प्रणयिनी के चुम्बनालिंगन की भाँति मधुर हैं और जग को सुनहली तस्वीरों से भर गई हैं।

कष्टों को सरसिज बना देने वाले युगान्तकारी संकल्पों ने इस कवि को बहुत आकृष्ट किया है। इसीलिए उसे यह देख कर युग-परिवर्तन का विश्वास हो जाता है कि :

आत्मा के चक्के पर चढ़ाया जा रहा
संकल्प शक्ति के लोहे का मजबूत
ज्वलन्त टायर !!

—अँधेरे में

आस्था, स्वप्न और संकल्प के बावजूद जब समाधान नहीं होता तो कवि समानधर्मा मित्रों की खोज में निकलता है। उसके प्रगतिवादी 'अन्तःकरण का आयतन' संक्षिप्त न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय मित्रों से आत्मीयता स्थापित करता है:

स्नेहाश्लेष या संगर कहीं भी हो
कि धरती के विकासी द्वन्द्व-क्रम में एक मेरा पक्ष
मेरा पक्ष, निस्सन्देह !!

यह उल्लेखनीय है कि कवि की आत्मा के 'मित्रस्नेह' संबंधियों से अधिक महत्वपूर्ण हैं :

माता-पिता-पत्नी-सुहृद् पीछे रहे हैं छूट
उन सब के अकेले अग्र में जो चल रहा है
ज्वलंत तारक-सा,
वही तो आत्मा का मित्र है ।—आत्मा के मित्र

त्याग-भावना से सम्पन्न क्रान्तिकारियों को कर्मक्षेत्र में संगठित होकर उतरना चाहिए, अकेले नहीं। इसीलिए मुक्तिबोध ने अकेली आग को देख कर खीझ प्रकट की है :

परन्तु, यह भी तो सच है कि ऐसी
समस्त अग्नियाँ, अकेले में जलती हुई
करती हैं अपनी ही
ऐसी की तैसी !!

—चम्बल की घाटी में

उग्र क्रान्ति के स्वप्न में कवि जन-संगठन का चित्र भी देखता है :

साथ-साथ घूमते हैं, साथ-साथ रहते हैं
साथ-साथ सोते हैं, खाते हैं, पीते हैं,
जन-मन-उद्देश्य !!

—अँधेरे में

संगठन के लिए यह आवश्यक है कि क्रान्तिकारी यश-लिप्सा से दूर रह कर अपने-आप को 'एक आयुध, मात्र साधन' समझें। इसीलिए एक भूतपूर्व विद्रोही का अन्तिम कथन है :

दुनिया में नाम कमाने के लिए
कभी कोई फूल नहीं खिलता है ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के काव्य में रूपक-कथा, आध्यात्मिक प्रतीक और उपचेतन का उपयोग आदि कुछ तत्व ऐसे हैं जिनके कारण सामाजिकों (जिनमें समाजवादी भी हैं) के हृदय का एकदम तादात्म्य नहीं होता और अबुद्धिवाद का पुनः-पुनः अनुसन्धान करने वालों की ईषदुन्मुक्त आत्मा को अल्पनावृत होने का अवसर मिल जाता है। परन्तु गद्य रचनाओं के आलोक में इन तत्वों के संयोजन का और उद्देश्य समझ लिया जाये तो यह सूर्य-सत्य उद्घाटित हो जाता है कि मुक्तिबोध के अन्तः-करण में अस्तित्ववाद, रहस्यवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। उनकी विश्वदृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है और जीवनादर्श है सामाजिक आर्थिक परिवर्तन और उसकीवा हक जन-क्रान्ति। इसी आदर्श के अनुकूल उनका काव्य 'जन चरित्री' और 'रक्तप्लावित' है। संक्रान्ति-युग के संघर्षों और आदर्श-यथार्थ द्वन्द्वों से आद्यन्त परिव्याप्त होने के कारण उसमें सिद्धावस्था के रति-चित्र एक आध स्थान पर अप्रस्तुत का आवरण लेकर ही उभर सके हैं। ऐसी खरी आत्मा वाला प्रगतिवाद अपने ही खेमे में उपेक्षित रह जाये तो यह मानना पड़ेगा कि औरंगजेबी हाथों से 'दारा की हत्या की संभावना हमेशा रही है। हमेशा रहेगी।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुड़वाँ संकट

जार्ज लूकाच से एक भेंट

कॉमरेड लूकाच, आपको अपना खुद का जीवन और इतिहास का वह युग जिसमें आपने अपनी जिंदगी गुजारी है कैसा लगता है? अपने क्रांतिकारी तथा वैज्ञानिक कार्यों के पचास वर्षों में आप सम्मान और अपमान दोनों के भागीदार रहे हैं। हम भी जानते हैं कि १९३७ में बेला कुन की गिरफ्तारी के बाद आपका जीवन खतरे में था। यदि आप आत्मकथा या अपने संस्मरण लिखते तो इन सारी बातों से आप कौन-सा आखिरी सबक हासिल करते? आपके लिए लड़ाकू मार्क्सवादी रहने का क्या महत्त्व रहा है?

—संक्षेपतः जवाब में मुझे यह कहना है कि यह मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरा जीवन एक भरा-पूरा और घटना-बहुल जीवन रहा है। मैं १९१७-१९ के वर्षों के अनुभव को अपने लिए विशेष सौभाग्यशाली मानता हूँ। इसलिए कि मेरी पृष्ठभूमि बुर्जुआ है: मेरे पिता बुदापेस्त में बैंकर थे। यों तो 'न्यूगात'[1] में मैंने व्यक्तिगत तौर पर कुछ विरोधी रुख अपनाया था, फिर भी मैं बुर्जुआ विरोध का ही एक अंग था। मैं यह कहने का साहस न करूँगा, और न कर सकता था, कि प्रथम विश्वयुद्ध की निरी निषेधात्मक चोट ने मुझे समाजवादी बना दिया। निस्संदिग्ध रूप से मुझे समाजवादी बनाया बाद की रूसी क्रांति ने और हंगरी के क्रांतिकारी आन्दोलनों ने, और मैं इस पर टिका रहा। मेरी समझ में यह मेरे जीवन का एक सर्वाधिक रचनात्मक पहलू है। यह तो दूसरा सवाल है कि कुल मिलाकर मेरा जीवन उठा या गिरा: चाहे जिस दिशा में सही। लेकिन यह कह सकते हैं कि मेरे जीवन में एक निश्चित एकता रही है। पीछे मुड़कर देखने पर मुझे दो प्रवृत्तियाँ दिखती हैं: पहली स्वाभिव्यक्ति की और दूसरी, समय-समय पर अपनी बुद्धि के अनुरूप समाजवादी आन्दोलन की खिदमत की। ये दोनों प्रवृत्तियाँ कभी भी एक दूसरे से अलग-थलग नहीं हुईं; मैं कभी उनके संघर्षों में नहीं फँसा। प्रायः ऐसा होता था कि अपनी राय में और दूसरों की भी राय में अपना किया हुआ काम करने के बाद ग़लत निकलता था। इसे मैं बड़े शान्तिमय ढंग से कह सकता हूँ। मैं सोचता हूँ कि उन मामलों में अपने विचारों को बाद में ग़लत पाने पर छोड़ना सही था। शेष में छान-बीन के बाद मैं अविकल भाव से कह सकता हूँ कि जो कुछ मुझे कहना था उसे जितनी अच्छी तरह कह सकता था उस तरह कहने की मैंने हमेशा कोशिश की। किन्तु इस पर मैं निर्णय नहीं दे सकता कि मेरे जीवन के कार्य का मूल्य क्या है और रूप क्या रहा है। इससे मेरा मतलब भी नहीं है। इस छोर या उस छोर इतिहास इसका फैसला करेगा। अपने तईं मुझे अपने प्रयत्न से संतोष है। इस सिलसिले में मैं यह कह सकता हूँ कि संतुष्ट हूँ। किन्तु सही मानी में इसका यह मतलब नहीं कि मैं इन प्रयत्नों के परिणामों से संतुष्ट हूँ। अपनी जिन्दगी के जो भी चंद दिन बाकी हैं उनमें अपने कुछ विचारों को मार्क्सवाद के लिए अधिक शुद्ध, उचित और वैज्ञानिक ढंग से व्यक्त करने का भरसक प्रयत्न करूँगा।

१. 'न्यूगात', जिसका अर्थ पश्चिम होता है, एक अग्रणी साहित्यिक पत्रिका थी जिसने प्रथम विश्व-युद्ध के पहले हंगरी की साहित्य-शैली निर्धारित की थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या इन्सान अपनी स्थिति से संतुष्ट हो सकता है ? क्या एसी स्थिति होती भी है ?

—साफ बात तो यह है कि लिखते समय समय-समय पर लेखक को इस स्थिति की अनुभूति हो सकती है। होता ऐसा है कि मैं यह महसूस करता हूँ कि जिस चीज़ को मैं व्यक्त करना चाहता था उसे मैं व्यक्त कर सका हूँ। यह अलग सवाल है कि तीन दिन बाद वह कैसा जँचेगा। कुल मिला कर मेरा यह कहना है कि ऐसी स्थिति होती है।

आप इस शताब्दी के इतिहास के केवल साक्षी ही नहीं भागी भी थे। यदि आपको अपने तरुण आदर्शों और सपनों का—हंगरी के सोवियत गणतंत्र से लेकर हमारे समय तक के समाजवाद के विकास का—चिट्ठा बनाना हो तो उसमें क्या-क्या शामिल होगा ?

—मनोगत तथा वस्तुगत तत्त्वों का पृथक्करण आवश्यक है। मनोगत रूप में तो आज की कौन कहे इस शताब्दी की बीसी तक ही स्पष्ट हो चुका था कि जिन उत्कट आशाओं के साथ हमने १९१७ और उसके बाद रूसी क्रांति का अनुसरण किया था उन्हें पूरा होना नहीं था। हमने जिस विश्वक्रांति में विश्वास जमाया था वह आई ही नहीं। क्रांति सोवियत संघ तक ही सीमित रही; यह किसी एक आदमी के सिद्धांतों का परिणाम नहीं है, ये तो विश्व-इतिहास के तथ्य हैं। इस अर्थ में किसी की मनोगत आशाएँ पूरी नहीं हो सकी हैं। दूसरी ओर अपने को मार्क्सवादी कहने वाले और इस कारण अपने को इतिहास का विद्यार्थी मानने वाले व्यक्ति को पता होना चाहिए कि कोई भी बड़ा सामाजिक रूपान्तरण रातोंरात नहीं हो सकता। साम्यवाद को वर्ग समाज बनाने में हज़ारों साल लग गए। या फिर ऐतिहासिक काल का एक उदाहरण लें। हम यदि दास-समाज के विघटन के इतिहास का अनुसरण करें तो यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इसे सामंतशाही के रूप में विकसित होने में आठ सौ क्या लगभग एक हज़ार वर्ष लगे। इसलिए जो जितना ही अधिक मार्क्सवादी है उसे उतना ही अधिक मालूम होना चाहिए कि पूंजीवाद से समाजवाद तक के संक्रमण जैसा निर्णायक परिवर्तन हफ्तों में या महीनों में या सालों में भी सम्पन्न नहीं होता और जिस काल में हम रहते हैं वह इस संक्रमण का केवल आरम्भ-मात्र है। कौन जानता है कि दुनिया के वास्तविक समाजवाद के युग में प्रवेश होने तक कितने दशक या और लंबे अर्से गुजर जाएँगे। जो मार्क्सवादी होना चाहता है उसे घटनाओं के मूल्यांकन से अपनी प्रत्याशाओं को अलग कर लेना होगा। हरेक व्यक्ति में वास्तविक समाजवादी युग को देखने की चाह स्वाभाविक है, किन्तु एक मार्क्सवादी को अपने ही जीवन के अनुभव से समझ लेना चाहिए कि ऐसे परिवर्तन रातोंरात नहीं होते।

मार्क्सवादी दर्शन हमारे युग की विशाल दार्शनिक निधि से सम्बन्ध कैसे कायम करें ? इसका कितना अंश मूल्यवान या भावी विकास के प्रेरक के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है ?

—इसका जवाब मैं सीधे न दूंगा। इसके लिए आप क्षमा करें। आधुनिक बूर्जुआ दर्शन के लिए मेरे दिल में ज़्यादा आदर नहीं है। इसे समझ सकते हैं कि जब समाजवादी देशों के लोग मार्क्सवादी, स्तालिनवादी विकृति के कारण निराश हो जाते हैं तब वे पाश्चात्य दर्शन की ओर झुकते हैं। उसी प्रकार जैसे पतिवंचका स्त्री सहज ही में रात में किसी दूसरे की गोद में मिलेगी। मैं स्वीकार करता हूँ कि बूर्जुआ दर्शन के लिए मेरे दिल में कोई इज़्ज़त नहीं है; और मैं हेगल को अंतिम बूर्जुआ विचारक मानता हूँ। यदि अमरीकी, जर्मन या फ्रांसीसी प्रेस— 'क' अथवा 'ख' को महान् विचारक घोषित करे, और, मिसाल के तौर पर, इस कारण स्तालिनवाद से निराश लोग संरचनावाद द्वारा मार्क्सवाद को सुधारने की कल्पना करें तो मैं इसे भ्रम मानता हूँ। बराय मेहरबानी आप मेरी इस साफ़गोई का बुरा न मानें। स्तालिन काल में सरकारी मार्क्सवाद का सोवियतेतर विकास की उपलब्धियों से बिलकुल अलग रहना मुझे नापसंद है। यह गलत और ग़ैरमार्क्सवादी था। इसलिए कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने तत्कालीन दर्शन और वैज्ञानिक धारणा का हमेशा बड़े ध्यान से अनुशीलन किया; इतना ही नहीं बल्कि वह अनुशीलन अत्यंत आलोचनात्मक था। यदि मार्क्स का जीवन देखें तो आप पाएँगे कि केवल डार्विन और मार्गन जैसी विशिष्ट विभूतियों ने ही उनके विचारों को प्रभावित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया, बल्कि, उदाहरण के लिए, लीबिग के कृषि-रासायनिक प्रयोगों में तथा माउजर के ऐतिहासिक शोधों आदि में भी उनकी उत्कट रुचि थी। इतना और कहना जरूरी है कि अपने तथाकथित महान् समकालीनों के बारे में उनकी दृष्टि तिरस्कारपूर्ण थी—यहां मुझे कांत और हर्बर्ट स्पेंसर का ख्याल आ रहा है। मैं आज के मार्क्सवादियों की मनोवृत्ति समझ सकता हूँ कि वे अपने सुधारों के लिए किस तरह हरदम पश्चिम की मदद की तलाश में रहते हैं। किन्तु वस्तुगत रूप से मैं इसे गलत मानता हूँ। मेरी समझ में जरूरी यह है कि हम मार्क्सवाद को भली भाँति समझें, इसकी सही चिंतन-पद्धति को फिर अपनाएँ और इस पद्धति के प्रयोग से मार्क्स के निधनोत्तर युग के इतिहास को समझने की कोशिश करें। सिद्धांतगत मार्क्सवादी दृष्टि से इसे अभी निश्चित करना है। मार्क्सवाद का एक सबसे बड़ा गुनाह यह है कि लेनिन की साम्राज्यवाद पर १९१६ में लिखी पुस्तक के बाद पूंजीवाद का कोई वास्तविक और आर्थिक विश्लेषण नहीं किया गया। इसी प्रकार समाजवाद के विकास का कोई वास्तविक और आर्थिक विश्लेषण नहीं है। इसलिए मेरी समझ से मार्क्सवादियों की यह जिम्मेदारी है कि आलोचनात्मक ढंग से यह जांचें कि पाश्चात्य रचनाओं से हम क्या सीख सकते हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि प्रकृति-विज्ञानों की अनेक क्षेत्रों में विपुल उपलब्धियाँ हुईं। जिनसे हम निश्चित रूप से सीख सकते हैं। दूसरे, मेरी राय में सही ढंग से निरूपित दर्शन और समाज-विज्ञान विषयक रचनाओं की आलोचनात्मक दृष्टि से जाँच होनी चाहिए। यह सोचना भ्रम है कि नीत्शे से अब भी कुछ सीखा जा सकता है, हालाँकि खेद है कि जानकारा में ऐसी मिसालें हैं जब लोगों ने स्तालिन के मार्क्सवाद से हताश होकर ऐसी कोशिश कीं। फिर भी अधिक से अधिक नीत्शे से यही सबक हासिल किया जा सकता है कि चिंतन कैसे न किया जाय और दर्शन के लिए क्या खतरनाक है और क्या बुरा। इसलिए मैं साफ़ बता देना चाहता हूँ कि पश्चिम से सीखने के सवाल पर मेरा रुख बड़ा ही आलोचनात्मक है। मैं चाहता हूँ कि मार्क्सवादी आलोचनात्मक हों और पाश्चात्य प्रवृत्तियों को भी सही मार्क्सवादी ढंग से आँकें।

आपने बूर्जुआ दार्शनिक प्रवृत्तियों के मुकाबले 'सरकारी मार्क्सवाद' की संकल्पना प्रयुक्त की और साथ ही यह भी कहा कि प्रतिष्ठित ग्रन्थों के प्रकाशन काल से अब तक बहुत कुछ करने की जरूरत है। 'सरकारी मार्क्सवाद' से आपका क्या तात्पर्य है?

"सरकारी मार्क्सवाद" से मेरा तात्पर्य उस मार्क्सवाद से है जिसका विकास सोवियत संघ में सिद्धांत राजनीति और संगठन के क्षेत्र में त्रात्स्की, बुखारिन और दूसरों पर स्तालिन के विजय पा लेने के बाद हुआ। यह एक प्रक्रिया थी। मैं तफ़सील में नहीं जाना चाहता लेकिन एक बात तय है; वह यह कि यह नहीं कहा जा सकता कि एक नियत दिन तक तो लेनिनवाद था और अगले दिन स्तालिन ने स्तालिनवाद चला दिया। बल्कि दस से ज़्यादा सालों तक बनी रही एक प्रक्रिया के दौरान मार्क्सवाद की पुनर्व्याख्या हुई जिससे वह स्तालिन-शासन के नतीजों की जरूरतों से मेल खा जाय। इसके आधारभूत सिद्धांतों के बारे में मैंने कई बार लिखा है। यदि फिर कह सकूँ तो यह कि इसमें निम्नोक्त बातें हैं: मार्क्स ने सार्वभौम द्वन्द्ववाद-विधि के सहारे विश्व-इतिहास का एक महान् परिदृश्य हासिल किया और हर प्रकार से इसकी आर्थिक और राजनीतिक नींव रखने की कोशिश की। यही परिदृश्य मार्क्स के क्रिया-कलाप की परम प्रेरक शक्ति थी। वे इस परम शक्ति से प्रत्येक युग में और प्रत्येक परिस्थिति में रणनीतिक स्थिति का, और रणनीतिक स्थिति में रणकौशल के कारणों का विश्लेषण करने में समर्थ हुए। स्तालिन ने इसे सर के बल रख दिया। इसलिए कि स्तालिन के लिए रणकौशल की स्थिति ही सार्वभौम थी और इस रणकौशल की स्थिति के लिए उसने एक रणनीति और एक सामान्य सिद्धांत तैयार किया। कहने को, स्तालिन का मत था कि समाजवाद में वर्ग संघर्ष निरंतर तीव्र होता जाता है और बीसवीं कांग्रेस ने इस मत की भर्त्सना भी की, किंतु फिर भी दुर्भाग्यवश यह घोषित न कर सकी कि स्तालिन का यह निष्कर्ष और इस निष्कर्ष पर आधारित बुखारिन और दूसरों के विरुद्ध 'महान परिवार की तैयारी ही केवल समस्या नहीं है; बल्कि समस्या तो यह है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसके अनुसार समाजवाद में वर्ग संघर्ष तीव्र हो जाता है। इसे एक और अधिक सारगर्भित प्रसंग द्वारा लक्षित कर सकते हैं जिसमें स्तालिन दरअसल रणकौशल के हिसाब से सही था। जब १९३९ में उसने हिटलर के साथ समझौते पर हस्ताक्षर किए तब उसका कदम रण-कौशल की दृष्टि से सही था। उसके बाद युद्ध का वह दौर आया जिसमें रूस के साथ मिलकर बर्तानिया और अमरीका ने हिटलर से लड़ाई की जिससे नात्सीवाद का खतरा दूर हुआ। मेरे विचार में बड़ा सवाल यह है कि क्या स्तालिन की आरंभिक रणकुशल चाल के बिना यह संभव था। इसके बरखिलाफ़ जब १९३९ में स्तालिन ने फर्मान निकाला कि द्वितीय विश्व-युद्ध वस्तुतः प्रथम से भिन्न नहीं है और इसलिए साम्यवादी पार्टियों की जिम्मेदारी अभी भी लीब्कनेख्त[2] के ढंग की है: अपनी ही जगह पर शत्रु से लड़ने की; और उसके बाद सही रणनीति के कदम लेकर भी कोमिंटर्न के नाम पर उसने फ्रांस और बर्तानिया की पार्टियों को अनर्थकारी गलत राय दी। मेरे विचार से इस उदाहरण से स्तालिन-वादी तरीकों के वीभत्स परिणाम काफी साफ दिखते हैं। और कहना यह है कि स्तालिनवादी धारणा को पूरी तरह मिटाना अभी शेष है। इस कारण विश्व-राजनीति में हमारी अनेक धारणाएँ निरी रणकौशल मात्र हैं जो रातों-रात गलत सिद्ध हो सकती हैं और लट्ठमार ढंग से कहें तो समाज की वस्तुस्थितियों में घटती प्रक्रियाओं से इनका खाक मतलब नहीं।

यूगोस्लाविया में अपनी कृतियों के ग्रहण के विषय में आपका क्या विचार है?

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं अपने को यूगोस्लाविया के वैचारिक विकास की समस्याओं पर टिप्पणी करने का अधिकारी नहीं समझता। संक्षेप में यही कह सकता हूँ कि द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान यूगोस्लाविया ने हम सबका उत्साह जगाया। छोटे देशों में अकेला यही राष्ट्र था जिसने हिटलर के विरुद्ध स्वतंत्र रूप से बड़े पैमाने पर मुकाबले की लड़ाई की। हंगरी के लोगों का हिटलर का सामना करने का संकल्प बहुत ही कम सचेत दृढ़ या सफल रहा। इस दृष्टि से उनके समेत अन्य सबों के लिए यूगोस्लाव जनता का आचरण मिसाल थी। दूसरे हम सभी को—और इससे मेरा तात्पर्य एक विचारक गुट का है—स्तालिनवाद के विकास से एक निश्चित असंतोष रहा। जो भी मेरे इस शती की बीसी और तीसी के लेख पढ़ेगा उसे दिखेगा कि उस समय भी मैं स्तालिन और ज्दानोफ़ के रास्ते से असहमत था। उदाहरण के लिए हेगेल पर मेरी पुस्तक ज्दानोफ़ के उसके विवेचन के एक-दम विरोध में थी। बहरहाल, इसके बावजूद हंगरी की नीतियों में सोवियत मार्ग का खासा अनुसरण किया गया और हम सबके लिए जो अपने लिए सोच सकते थे तीतो का स्तालिन के तरीकों के सामने व्यवहार-संगत आलोचना करते डटना एक बड़ी घटना थी। समाज-वाद का इतिहास, तीतो के इस महान् कार्य को कभी भूल नहीं सकता। फलस्वरूप यूगोस्लाविया में मार्क्सवादी लेखन 'सरकारी मार्क्सवाद' की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र होने लगा। मैंने इस ओर ध्यान तो दिया लेकिन इसके मानी यह भी हैं कि समय-समय पर मैंने इसकी तीव्र आलोचना भी की। फिर कहूँगा कि ये उभार एक गाड़ी से निकल कर दूसरी गाड़ी पर चढ़ने के समान नहीं हैं। इसके पहले कि नए दौर का सिद्धांत कोई शक्ल अख्तियार करे बड़े सैद्धांतिक समर की जरूरत है। इस प्रक्रिया के आरंभ का श्रेय यूगोस्लाविया के साथियों को है और कभी भी छिपा नहीं रह सकता। बहरहाल, जो भी बौद्धिक उपकरण उपलब्ध हैं उनके द्वारा स्तालिन-वादी विचारधारा की समीक्षा और मार्क्सवाद के पुनरुद्धार के लिए बढ़ते हुए संघर्ष का अनुशीलन जितना हो सकता है हो रहा है। यह यूगोस्लाविया पर ही नहीं बल्कि सारे आन्दोलन पर लागू है। इस प्रकार यह ज़ाहिर है कि पूरी तौर से स्पष्ट दृष्टिकोणों को और एक प्रबल दिशा को अभी उभरना है। मुझे विश्वास है कि आप मेरे इस कहने को ग़लत नहीं समझेंगे कि मनोगतरूप से मुझे यह आशा है कि जिस दिशा का मैं हामी हूँ वही दिशा प्रबल होकर उभरेगी, हालाँकि सभी यही आशा करते हैं कि इतिहास

२. लीब्कनेख्त एक जर्मन समाजवादी नेता था जिसने स्पार्टकस का निर्माण किया। स्पार्टकस एक रोमन योद्धा था जिसने रोम के विरुद्ध दास-विद्रोह का नेतृत्व किया।—अनुवादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंततः उन्हीं के दृष्टिकोण का समर्थन करेगा। हर हालत में सही रास्ता कौनसा है उसके बारे में वस्तुतः अभी ऐतिहासिक निर्णय लेना है और समाजवादी तथा पूँजीवादी देशों में हर जगह ऐसे लोग हैं जो मार्क्सवाद के पुनरुद्धार के लिए प्रयत्नशील हैं। सभी आपस में विवाद करते हैं और आशा करते हैं कि उन्हें कोई ऐसी दिशा मिलेगी जिससे मार्क्सवाद को इस दुःखद परिस्थिति से मुक्ति मिलेगी जहाँ वह स्तालिन के प्रभाव से बहक कर जा चुका है।

कुछ लोगों की धारणा है कि श्रमिकों के स्वायत्त प्रबंध की प्रणाली यूगोस्लाविया का एक खास आविष्कार है, समाजवादी विकास की अभिव्यक्ति नहीं। इसमें आपकी क्या राय है?

इस शक्ल में आपके सवाल का जवाब देना बड़ा मुश्किल होगा। सामान्यतः मैं यही कह सकता हूँ कि श्रमिकों का स्वायत्त शासन समाजवाद की एक बड़ी समस्या है। मेरी समझ से सामान्य जनतंत्र का या सही मानी में बूर्जुआ जनतंत्र का स्तालिनवाद से मुकाबला करना गलत है। मार्क्स ने पिछली शती की चालीसी में बूर्जुआ जनतंत्र की आधारभूत संरचना का पहले ही वर्णन कर रखा है। यह आदर्शवादी नागरिक और भौतिकवादी बूर्जुआ के विरोध पर बना है। और पूँजीवाद का अनिवार्य परिणाम यह है कि पूँजीवादी बूर्जुआ चोटी पर पहुँच जाता है और आदर्शवादी नागरिक उसका नौकर बन जाता है। इसके विपरीत समाजवाद के विकास का, जिसकी शुरुआत पेरिस कम्यून से हुई और जो दो रूसी क्रांतियों के दौरान जारी रहा, निचोड़ था श्रमिकों की परिषदें। सिद्धांत के तौर पर यह कह सकते हैं कि यह रोजमर्रा के जीवन का जनतंत्र है। जनतांत्रिक स्वायत्त-शासन रोजमर्रा के जीवन में अत्यंत प्रारंभिक स्तरों पर विकसित होकर ऊपर उठता हुआ सारे महत्वपूर्ण सार्वजनिक मसलों पर सारी जनता का निर्णय बन जाता है। आज अभी हमारे इस विकास का प्रारंभ है। लेकिन इसमें जरा भी शक नहीं कि आज की नई परिस्थितियों में यूगोस्लाविया के इन विचारों से और उनके उत्तरदायित्व-पूर्ण विचार-विनिमय का विषय होने से श्रमिकों की परिषदों की अंतिम सफलता में योगदान मिलेगा जिससे एक बार फिर वे हर समाजवादी विकास का आधारभूत कारण बन सकें।

आपने एक बार यह विचार व्यक्त किया था कि पूरा इन्सान सार्वजनिक जीवन का इंसान होता है। क्या आप इसकी व्याख्या करेंगे?

मेरा विश्वास है कि यहाँ हमें मार्क्सवाद के एक मूल विषय से गरज़ है जिसका निपटारा मार्क्स ने अपने प्रारम्भिक दिनों में फावरबाख पर प्रबंध लिखने में किया। जब मार्क्स ने फावरबाख की आलोचना की तो कहा कि भौतिकवाद में फावरबाख की पहुँच प्रकृति तक जाकर रुक गई। आवयविक प्रकृति की दुनिया में कुछ जातियों का आविर्भाव होता तो है किन्तु, जैसा कि मार्क्स ने फावरबाख के विरोध में अपनी दलीलों में कहा, ये जातियाँ मूक जातियाँ हैं। शेर, अकेला शेर, सिंह जाति का है, लेकिन अकेला शेर इस बारे में कुछ नहीं जानता। शिकार करते या बच्चा पैदा करते समय वह महज़ जन्तुगत जरूरतों भर को पूरा करता है और साथ ही जाने बिना ही अपना जाति-कर्म और प्रतिनिधित्व करता है। जब मार्क्स ने कहा कि मानव समाज मूक जाति नहीं तो इसका तात्पर्य क्या है? बात यह है कि इन्सान मानव जाति का और मानव-समाज का ऐसा ही अभिन्न अंग है जैसा शेर जानवरों का या, चाहें तो, जैसे घास की पत्ती पौधों का। बहरहाल, इसके विपरीत अपने परम आदिम स्तर पर भी इन्सान अपने कुनबे का सचेत सदस्य है। इन्सान का परम आदिम कुनबे का सदस्य होना ही उसे निरी जन्तुगत मूकता से ऊपर उठाता है। इस प्रकार जातिगत और व्यक्तिगत अपेक्षाओं के बीच व्यक्ति और जाति के उत्तरदायित्व और जाति तथा व्यक्ति दोनों के ऊपर इन दोनों के पारस्परिक संघर्ष के बीच एक विचित्र द्वंद्व उठता है। यही चीज़ आदमी के इन्सान बनने के मूल में स्थित है। यदि हम इतिहास को भली-भाँति निरखें तो हम देखेंगे कि सारे इतिहास का उपादान यही है। इसमें इतना और जोड़ देना चाहिए जो मार्क्स ने कहा था कि हम जिस विकास का अनुभव करते हैं वह अभी मानव जाति का प्रागितिहास मात्र है, हालाँकि जब हम पत्थर की कुल्हाड़ी से परमाणु बम की तुलना करें तो पाएँगे कि यह तरक्की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी बड़ी है। अपने वर्गजात अवरोधों को पार करने के बाद इन्सान अपना सही इतिहास साम्यवाद में शुरू करेगा। अर्थात् समसामयिक मानव और उसके जातीय सम्बन्धों को आँकते समय हमें जानना चाहिए कि हम अभी प्रागितिहास के मुकाम पर ही हैं। मैं इसकी व्याख्या इस प्रकार कर सकता हूँ कि प्रागैतिहासिक दौर में जातिगत स्थिति और इन्सान की शुद्ध व्यक्तिगत अपेक्षाओं में अभी वस्तुतः विरोध है और इतिहास में अपवाद वे ही व्यक्ति रहे हैं जहाँ दोनों में पूर्ण समन्वय रहा है। उदाहरण के तौर पर थर्मोपिली में ३०० स्पार्टा निवासियों की स्मृति में खुदे हुए शिलालेख[3] का विचार करें। बहरहाल, द्वंद्व निरन्तर प्रगाढ़ होता जा रहा है। इसी द्वंद्व से मानव समाज के मार्ग में अधिक-से-अधिक लोगों को चिंतन की प्रेरणा मिलेगी कि व्यक्ति की आत्मसंपूर्ति जाति के परम आदेशों को ऐसे कर्तव्य के रूप में अंगीकार करने से संभव है। आवश्यक नहीं है कि सबको इसका बोध हो किन्तु सुकरात और लेनिन जैसी विभूतियों का संमोहक तत्व यही है कि उनकी वैयक्तिक विशेषताओं के स्वतंत्र विकास तथा जातिगत अपेक्षाओं की संपूर्ति के स्वेच्छावरण के बीच सामंजस्य है। अब मेरा कहना यह है कि साम्यवाद में मार्क्सवाद के लक्ष्य स्पष्ट रूप से ऐसे होने चाहिए जिससे जाति का अंग होने के नाते इन्सान अपने स्थान को स्वीकार करे और इस स्वीकृति में अन्तर्हित कर्तव्य का निर्वाह करके व्यक्तिगत सम्पूर्ति के अनुभव की क्षमता प्राप्त करे; जिस अनुपात में यह क्षमता होगी उसी अनुपात में वह मूक जाति के जाल से छुटकारा पा सकेगा।

आपने लेनिन का नाम दो बार विशेष स्नेहपूर्वक लिया। आपके अपने जीवन में उनका क्या महत्व था?

—अगर आपका यह मतलब है कि मेरा खुद उनसे कितना वास्ता था तो मेरा यही जवाब है कि नहीं के बराबर। लेनिन से हमारा व्यक्तिगत संपर्क इतना ही था कि इस शती की बीसी में बड़ी निर्मम शैली में मुझे लिखा था कि 'संसदवाद पर तुम्हारा लेख रद्दी और गैर मार्क्सवादी है। मैं स्वीकार करता हूँ कि उनकी यह एक ऐसी आलोचना थी जिससे मैंने बहुत-कुछ सीखा। अपनी इस आलोचना में नहीं बल्कि उसी विषय से संबंधित अपने लेख 'बचकानी गड़बड़' में लेनिन ने विश्व-इतिहास के परिदृश्य में संसदीय संस्था और इसके व्यावहारिक राजनीतिक विस्थापन की भिन्नता पर जोर दिया था। अपने लेख में मैंने इन दोनों को उलझा दिया था। इस भिन्नता पर लेनिन के बल देने से मैंने बहुत कुछ सीखा। इसके बाद से ही मुझे ऐसे सवालों की समझ और शऊर आया। वस्तुतः लेनिन से मेरा व्यक्तिगत संपर्क इतने से ही समाप्त हो गया। असल में लेनिन से मेरी मुलाकात तीसरी कोमिंटर्न कांग्रेस में हुई तो जरूर, लेकिन इसे मत भूलिए कि उस समय मैं एक छोटी-सी ग़ैरकानूनी पार्टी की केन्द्रीय समिति का सदस्य मात्र था और जब किसी ने गलियारों में लेनिन से मेरा परिचय कराया तब दूसरे दर्जे के एक हंगरीवासी से वार्तालाप में उलझने की बजाय उनको और जरूरी समस्याएं भी रही होंगी। इसके बावजूद तृतीय कांग्रेस में मुझ पर लेनिन के व्यवहार की बहुत बड़ी छाप पड़ी। उनके लेखों के अध्ययन ने उसे और मजबूत बनाया। अधिक निश्चित रूप से, लेनिन को हम वस्तुतः एक नए किस्म का सच्चा क्रान्तिकारी पाते हैं। इससे मेरा मतलब पुराने क्रान्तिकारियों की मर्यादा कम करना नहीं है। लेकिन कह सकते हैं कि नगर-सभ्यता के विघटन के उपरान्त लोगों के असंगत व्यवहार के मुकाबले नागरिक नैतिकता के पुनर्जन्म को लक्ष्य रख कर स्टोइक दार्शनिकों ने अधिक संगतिपूर्वक कार्य करने योग्य एक नए अभिजात वर्ग के निर्माण का प्रयोग किया। इस प्रवृत्ति के अवशेष तथा १७वीं और १८वीं शताब्दियों में इसके पुनरुत्थान के फलस्वरूप महान क्रान्तिकारियों में एक निश्चित तपोवृत्ति मिलती है। उदाहरण के तौर पर यदि आप राब्सपियर का विचार करें तो यह तपोवृत्ति अधिक स्पष्ट मिलती है। इसने हमारे युग को भी प्रभावित किया है। यदि हम अपने ही क्रान्तिकारी युग को देखें और हंगरी में ओतो

---

३. शिलालेख था "परदेसी, स्पार्टा निवासियों तक यह संदेश ले जाओ कि हमने उनकी प्रतिज्ञा रखी और यहाँ पड़े हुए हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कॉविन[4] और म्यूनिख में यूगेन लेविने[5] जैसी विभूतियों पर दृष्टिपात करें तो आप मेरा मतलब समझ लेंगे। यूगेन लेविने ने कहा था कि साम्यवादी हमेशा मौत से छुट्टी पर रहते हैं। दरअसल यह तप की पराकाष्ठा है। इसके मुकाबले पहले एंगेल्स और उसके बाद लेनिन अतापसिक वर्ग के क्रान्तिकारियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके क्रान्तिकारी आचरण का सबूत इस बात में है कि उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं ने उनके जीवन में कोई भी भूमिका अदा न की और यदि उन्होंने व्यक्तिगत रुझान के विरुद्ध कोई निर्णय लिए भी तो तापसिक रूप में नहीं। गोर्की का लेनिन संबंधी संस्मरण पढ़ते समय, विशेषतः उन श्रेष्ठ अंशों को जिनमें लेनिन बीटोफेन की 'अपास्योनेटा' की चर्चा करते हैं, यह साफ दिखता है कि राब्सपियर और लेविने वर्ग की तुलना में लेनिन एक नए किस्म के क्रान्तिकारी प्रतिनिधि हैं जो सार्वजनिक जीवन के वैसे ही इन्सान और अपनी वैयक्तिक नियति के वैसे ही आत्मत्यागी पुरुष हैं जैसा कि पुराने किस्म का क्रान्तिकारी, किन्तु बिना तापसिक आत्म-त्याग के। मेरे विचार में लेनिन की मिसाल भावी विकास-क्रम में बहुत बड़ी भूमिका अदा करेगी।

क्या तापसिक वृत्ति और 'बचकानी गड़बड़' में सीधा संबंध है?

—स्वभावत:। उस समय के उग्र क्रांतिकारी अधिकतर तपस्वी किस्म के थे। मुझे विश्वास है कि लेनिन भली-भाँति जानते थे कि उनमें बहुत से अद्भुत, खरे और कर्तव्य-निष्ठ क्रांतिकारी थे। कट्टरपंथ की भर्त्सना करने के बावजूद लेनिन के दिमाग़ में यह चीज़ कभी नहीं आई कि हालैण्ड निवासी पैनकोएक या रालैंड होल्स्ट को सच्चा क्रांतिकारी मानने से इनकार करें। हालाँकि लेनिन के सामने यह बात असंदिग्ध रूप से राजनीतिक समस्या के रूप में आई, फिर भी पृष्ठभूमि में नैतिक समस्या तो है ही। तब भी एक विशिष्ट सिद्धांतशास्त्री ही नहीं बल्कि व्यवहार कुशल पुरुष होने के नाते लेनिन बहुत अच्छी तरह जानते थे कि यह नैतिक समस्या केवल सार्वजनिक संदर्भ में उच्चतर विकासावस्थाओं में ही उठ सकती है। इस शती की बीसी के विवादों में कट्टरपंथ के पक्ष में या विपक्ष में ठोस समस्याओं के बारे में लेनिन का वही दृष्टिकोण रहा जिससे वे उन व्यावहारिक निर्णयों पर पहुँचे जिनके लिए उन्होंने संघर्ष किया था।

'बचकानी गड़बड़' की रोशनीमें आज के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आंदोलन के बारे में आपका क्या मत है?

—देखिए, यह बड़ा ही उलझा सवाल है। वामपंथी उग्रवाद निस्सन्देह एक भूमिका अदा करता है। केवल हमें फिर बहुत ही सजग रहना है कि प्रतिष्ठित ग्रंन्थों में उल्लिखित समस्याओं के फैसलों को आज की समस्याओं पर कैसे लागू करें। जो यह सोचे कि लेनिन की १९२० की लिखी पुस्तक १९६९ के अमरीकी युवक पर लागू कर सकता है या लेनिन की रालैंड होल्स्ट की आलोचना दुत्श्के पर बैठ सकती है वह भयंकर गलतफहमी में है। दूसरी ओर यहाँ एक ठोस समस्या है जिसके बारे में हम लेनिन से सबक हासिल कर सकते हैं। वह यह कि हम पूँजीवादी समाज के संकट की प्रारंभिक अवस्था में हैं। यदि आप १९४५ और हिटलर पर विजय प्राप्ति का सिंहावलोकन करें तो पाएँगे कि बहुत-से लोगों का यह विश्वास था कि नया अनुकूलित पूँजीवाद—अमरीकी जीवन-पद्धति—मानव-विकास में एक नए युग को अभिलक्षित करता है। उनका कहना था कि अब यह पूँजीवाद नहीं रहा बल्कि एक प्रकार का उच्च-स्तरीय समाज है। आदि-आदि। तब से २५ वर्ष बीते और आज समूचे ढाँचे को एक अत्यन्त गंभीर संकट के प्रारंभिक दौर का सामना करना पड़ रहा है। मैं प्रारंभिक

---

४. आँतो कॉविन एक समाजवादी विचारक था। उसने १९१९ की हंगरी की कम्यून में प्रमुख भाग लिया। उसका विश्वास था कि मृत्यु स्वीकार करना क्रांतिकारी का परम धर्म है और कम्यून के गिरने पर उसने जान-बूझकर बुदापेस्त से भाग निकलने से इनकार किया। उसे फाँसी दी गई।

५. यूगेन लेविने रूस में पैदा हुआ था और १९१९ की बवारिया के सोवियत गणतंत्र के समय म्यूनिख की जर्मन कम्यूनिस्ट पार्टी का नेता था। गणतंत्र के गिरने के बाद प्रतिक्रान्तिकारियों ने उसे फाँसी दे दी। अपने मुकदमे के एक प्रसिद्ध भाषण में उसने घोषणा की थी कि "हम सभी साम्यवादी मर चुके हैं केवल मौत से छुट्टी पर हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दौर और संकट दोनों पर बल दूंगा। प्रारंभिक दौर का अर्थ है विद्यार्थियों और बुद्धिजीवियों का विद्रोह, किंतु इसे अभी ठोस कार्यक्रम तैयार करना है। जो कार्यक्रम सामने रखे गये हैं, वे आमतौर से बहुत ही भोले किस्म के हैं। उदाहरण के लिए आप को याद होगा कि नव-युवक यह कहने के आदी हैं कि काम को खेल में बदलने से ही जोड़-तोड़ पर काबू पाया जा सकता है। तब तो जो कुछ फूरियर ने १६ वीं शती के आरम्भ में कहा था और जिस पर मार्क्स ने पिछली शती की चालीसी में व्यंग्य कसा था उसी को बस वे सचमुच दोहरा भर रहे हैं। इस तरह सिद्धांत की दृष्टि से हमारे सामने महज़ एक बड़ा अधकचरा आंदोलन है। इसका वस्तुगत तौर से मूल्यांकन करना चाहिए, क्योंकि यह अनुकूलित पूँजीवादी समाजों में आजकल उठते हुए अंर्तविरोधों के मुकाबले पर है। इस से मेरा तात्पर्य है वियतनाम युद्ध से, संयुक्त राज्य के नस्ल विषयक संकट से, बर्तानिया की साम्राज्योत्तर भूमिका पाने की असमर्थता से, फ्रांस के, जर्मनी के, इटली के संकट से। दूसरे शब्दों में विश्व-इतिहास के परिदृश्य में हम विश्व संकट के दरवाज़े पर हैं। यह साफ कर लेना चाहिए कि दरवाजे का मतलब पचास साल भी हो सकता है। जैसा लेनिन ने 'क्या करें' में बिल्कुल सही कहा है कि क्रांति के सिद्धांत के बिना क्रांति नहीं हो सकती। इससे आज मार्क्सवाद के नवीकरण के लिए बड़ा व्यव-हार संगत प्रोत्साहन मिलता दीखता है। मैं फिर अपनी बात पर आता हूँ। पाश्चात्य और अपने भी देशों में पूँजी-वाद के उपार्जन का आर्थिक और सामाजिक विश्लेषण करने के लिए मार्क्सवादी पद्धति का नवीकरण करना होगा। हम समाजवादियों ने यह विश्लेषण नहीं किया और इस विश्लेषण के बिना हम उन ठोस समस्याओं को बिलगाने में असमर्थ हैं जिनका समाधान जरूरी है। जब तक यह नहीं होगा तब तक हम महान् निर्णयों के योग्य क्रांतिकारी आंदोलन का उल्लेख करने की स्थिति में नहीं हो सकेंगे। यही कारण है कि मार्क्सवाद के नवीकरण को मैं इतना बड़ा मसला मानता हूँ। समाजवादी देशों में भी समस्याएँ हैं क्योंकि सिद्धांत को नया किए बिना व्यवहार को नया नहीं किया जा सकता। जिसको महज़ यह विश्वास है कि घटनाओं के द्वारा ही पूँजीवाद को उलटा जा सकता है वह स्वभावतः बहुत ही भोला है।

समाजवादी देशों में मार्क्सवादी सिद्धांत के नवीकरण से कौन-सी ठोस समस्याएँ उठती हैं? उनमें से उल्लेख के लिए आप कौन-सी चुनेंगे?

—यहाँ अनेक समस्याएँ हैं। अर्थशास्त्र से आरंभ करें। जैसा लेनिन जानते थे कि रूसी क्रांति न तो परम विक-सित पूँजीवादी देश में हुई और न विश्व क्रांति के रूप में ही, बल्कि हुई तो तुलना में पिछड़े देश में ही। इसका अर्थ यह है कि सोवियत संघ के सामने एक अपूर्व काम था जो मार्क्स की प्रतिपादित योजना में नहीं आता था क्योंकि उनकी कल्पना में समाजवादी क्रांति सर्वाधिक विकसित देशों में ही होनी थी। यह कार्य था सोवियत संघ के उत्पादन को उस स्तर तक उठाने का जिससे सच्चा समाजवाद आर्थिक दृष्टि से संभव हो सके। आज मुझे शंका हो रही है कि स्तालिन ने अपने प्रतिद्वंद्वियों को परा-जित किया इस कारण ही नहीं कि उनमें अकेला वही कुशल रणनीतिज्ञ था, बल्कि इस कारण भी कि सबसे बढ़ी कर तो उसने इस एकदेशीय समाजवाद की तथा आर्थिक पिछड़ेपन पर विजय पाने की जरूरत की बड़ी दृढ़ता पूर्वक हिमायत की। स्तालिन काल में सोवियत संघ बराबरी में तो पहुँच गया, भले ही पूरी तौर से न सही। फिर भी उत्पादन अभी सामान्य नहीं हो पाया है और सबसे बढ़कर तो इस प्रकार का उत्पादन जिससे समाजवादी दिशा में संक्रमण संभव हो सके। इस संदर्भ में आज सोवियत संघ में तथा प्रत्येक समाजवादी देश में 'क्या करें' की समस्या उठती है। अब इस समस्या का समाधान स्तालिन के तरीकों से नहीं हो सकता। हंगरी के आर्थिक सुधारों के शुभारंभ के अवसर पर जब 'ऊनिता' ने (२२ अगस्त, १९६६) मुझसे भेंट की तब मैंने कहा था कि समस्या का समाधान केवल समाजवादी जनतंत्र के शुभारंभ से ही संभव है। नए आर्थिक विकास तथा गैर जनवादी स्तालिन-वादी तंत्र से समाजवादी जनतांत्रिक संक्रमण का प्रश्न एक ही समस्या-समवाय के अंग हैं। एक का हल दूसरे के बगैर नहीं हो सकता। किंतु इसको अब भी स्वीकार न करने के कारण हम एक अर्थ में संकट की स्थिति में ही हैं जिस पर सिद्धांत और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में हमें काबू पाना जरूरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। कुछ व्यक्ति तो इसे स्वीकार करते हैं फिर भी हम समाधान से अभी कोसों दूर हैं।

यह हमारे लिए निर्णायक महत्त्व का है क्योंकि इसके बिना हम उत्पादन में विश्व-स्तर पर नहीं पहुँच सकते। इसके अतिरिक्त इस जनतांत्रिक विकास के कारण स्तालिनवादी तंत्र से उत्पन्न बहुत बड़ी कमी ठीक हो जाएगी। मैं कई बार कह चुका हूँ कि यह एक असाधारण विशेषता थी कि यद्यपि लेनिन के समय में सोवियत संघ को सैनिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था और वहाँ अकाल पड़ा हुआ था, फिर भी मुझे याद है कि मैंने प्रवासियों के कई सम्मेलनों में भाग लिया था जहाँ हम लोग सोवियत संघ के भुखमरों के लिए इकट्ठे हुए थे। केवल बुद्धिजीवियों की ही नहीं बल्कि और ज्यादा श्रमिकों की अक्सरियत ने महसूस किया कि जो कुछ सोवियत संघ में हो रहा था वह स्वयं उनके जीवन के लिए भी निर्णायक था। या, लैटिन में कहना हो तो 'नॉस्ट्रा कॉज़ा आजिटुर' (हमारा ही हित) है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्तालिनवाद की प्रगति का महा भयंकर फल यह हुआ कि यूरोप के समाजवादी आंदोलन से यह कौटुम्बिक भावना जाती रही। यह सही नहीं है कि फ्रांस और इटली का समाजवादी इस लिए समाजवादी है कि उसे सोवियत संघ के श्रमिकों की तरह रहने की इच्छा है। वह उस तरह नहीं रहना चाहता। अगर वह सच्चा समाजवादी है तो समाजवादी जिंदगी बसर करना चाहेगा, लेकिन उसे सोवियत श्रमिक और काल्खोज के किसान की जिंदगी समाजवादी नहीं लगती। इस प्रकार यहाँ पर ये दोनों संकट परस्पर निर्भर हैं। हम जबतक मार्क्सवाद से लिए हुए सिद्धांत को पुनर्जीवित नहीं कर सकते और जब तक समाजवादी देश में उसे जीवंत सत्य नहीं बना पाते तब तक १९१७ से लेकर लगभग 'महान् परिष्कारों' तक कायम रहे मार्क्सवाद के असाधारण आकर्षण और उसके प्रति अंतर्राष्ट्रिय सहानुभूति को पुनर्जीवित नहीं कर सकते। केवल समाजवादी सिद्धांत का पुनरुद्धार ही इस पारस्परिक निर्भरता का आधार हो सकता है। इस पर मैं जितना भी बल दूँ, कम है।

बहुत लोग समाजवादी देशों के आर्थिक सुधार पर ही जोर देते हैं। कामरेड लुकाच, आपके मतानुसार क्या केवल 'अर्थ व्यवस्था' का सुधार संभव है?

—अर्थ व्यवस्था को बिलगा कर कभी भी परख नहीं सकते। यहाँ और पश्चिम में लोग सोचने में यह ग़लती करते हैं कि यदि किसी विश्वविद्यालय में किसी विषय का अलग विभाग है तो सचमुच ही उसका अलग अस्तित्व है। मैं समाज या सिद्धांत आदि का जिक्र किए बिना विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र पर व्याख्यान दे सकता हूँ, किंतु इसके बावजूद सही आर्थिक विकास हमेशा सारे समाज के विकास का आधार तथा केन्द्र रहा है। दूसरे शब्दों में मेरे कहने का यह मतलब है कि केवल मार्क्सवादी अर्थशास्त्र को ही नया नहीं करना है बल्कि खुद मार्क्सवाद को नया करना है। जिस अर्थ में हमारे शास्त्री मार्क्स पर व्याख्यान देते हैं उस अर्थ में मार्क्स शुद्ध अर्थशास्त्री कभी नहीं रहे। यदि आप 'दास कपिताल' का अवलोकन करें तो प्रत्येक पृष्ठ पर आपको वे सारी चीज़ें दिखेंगी जिन्हें हमारी प्रवृत्ति समाजशास्त्र या इतिहास के शीर्षक में विभाजन करने की होती है। किंतु मार्क्स एक महान् विचारक थे और इस कारण उन्होंने इस प्रकार के शीर्षकों की रत्ती भर परवा नहीं की तथा सामाजिक विकास पर उसके असली अखंड रूप को दृष्टिगत करके विचार किया। इसलिए, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, मैं हंगरी में इस मत का प्रतिपादन करता हूँ कि समाजवादी जनतंत्र के पुनरुद्धार की शुरुआत बग़ैर नया अर्थतंत्र कारगर नहीं हो सकता। मैं इस बात का क़ायल हूँ कि नए आर्थिक यंत्र-विन्यास में जो बहुत-सी त्रुटियाँ और रुकावटें मिलती हैं उनका स्रोत ऐसे आर्थिक नियमन के समावेश में है जिसके सामाजिक आधारों को न तो समझा-बूझा गया और न उनका सुधार ही किया गया। इस तरह यहाँ भी समस्या मार्क्सवादी पद्धति के आधारों के पुनर्निर्माण से उलझी हुई है। देखिए, मार्क्स के बारे में बहुत-कुछ कहा जा सकता है किंतु यह कभी नहीं कि वे पेशेवर अर्थशास्त्री थे जैसा शायद हंगरी और यूगोस्लाविया के कुछ आचार्य सोचते हैं। मुझे इसमें संदेह है कि मार्क्स के बुरे-से-बुरे दुश्मन भी उनके बारे में ऐसी व्याख्या रखेंगे। यहाँ हमें अपने को बिना दूसरा मार्क्स समझे ही अपने प्रयत्न संकल्पना और उद्देश्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्स की चिंतन-पद्धति की राह से गुजरना पड़ेगा।

आपने जातियों की नीति की समस्याओं पर बहुत नहीं कहा है। क्या इसका अर्थ यह है कि आपको इस विषय पर कुछ विशेष नहीं कहना है ?

—खेद है कि इस मामले में मैं परंपरावादी हूँ; मेरे विचार से मार्क्स और लेनिन ने जो कुछ कहा, है वह सोलह आने सही है। मार्क्स ने कहा कि जो जाति दूसरे को सताती है वह स्वतंत्र नहीं हो सकती, और लेनिन ने प्रत्येक जाति के लिए स्वायत्त-शासन की माँग की, यहाँ तक कि अलग होने के अधिकार तक की। इस विषय पर उन दोनों ने उन परस्पर-निर्भर अवयवों के बारे में कहा जिनके बिना बहुजातीय देश में समाजवादी विकास चरितार्थ नहीं हो सकता। मैं सोच नहीं सकता कि हम इसमें कोई खास बात जोड़ सकते हैं। उन्होंने इस पारस्परिक निर्भरता का बड़ा सही प्रतिपादन किया है और हमारी जिम्मेदारी यह होगी कि जहाँ कहीं भी संभव या आवश्यक हो इसे ठोस ढंग से लागू करें।

क्या यह संभव होगा। ?

—हाँ। असल में इसे हरेक मामले में लागू करना होगा। हम अभी तक सैद्धांतिक प्रश्नों पर विमर्श कर रहे थे। मैं रोजमर्रा की राजनीति के सवालों पर कुछ नहीं कहना चाहता। किंतु यूगोस्लाविया में जिस प्रकार आपने यह समस्या हल की है वह एक दूरवर्ती पर्यवेक्षक के नाते तथा हंगरी के एक पर्यवेक्षक के नाते आमतौर पर मुझे लगभग पसंद है। मेरे विचार में मार्क्सवादी-लेनिनवादी-समाधान की दिशा में कुछ कदम उठाए गए हैं। अगर कुछ निषेधात्मक पहलू हैं तो इस विवाद में हम शायद उनका ज़िक्र करना नहीं चाहेंगे।

तथाकथित 'सरकारी मार्क्सवाद' में एक मत लगभग फैल गया है कि संपत्ति-संबंधों के रूपांतर से समाजवादी देशों में जातीय प्रश्न का हल हो जाएगा।

लेनिन ने कभी यह न कहा कि कोई भी समस्या 'खुद हल हो जाएगी'। एक लंबे जीवन के दौरान चाहे छोटे निजी सवाल हों या बड़े सार्वजनिक प्रश्न, मैंने किसी भी सवाल को अपने आप हल होते नहीं देखा।

···वाक्यांश अवतरण-चिह्नों 'में' था !

बहुत अच्छा। लेकिन मुझे उद्धरण चिह्नों का अनुवाद करने दें। अगर मैं सिगरेट पीना चाहूँ तो मुझे दूकानों पर जाना पड़ेगा और कॉमुथ का डिब्बा खरीदना पड़ेगा क्योंकि इसके बगैर मैं कॉमुथ नहीं पी सकता। एक लंबी जिंदगी के दौरान मुझे कभी ऐसा नहीं मिला कि मैं अपने घर में बैठा रहूँ और सिगरेट अपने आप मेरी मेज़ पर पहुँच जाय। ऐसे ही मैं यह नहीं मानता कि बड़ी सामाजिक समस्याओं का हल इन रोजमर्रा के छोटे सवालों के हल से आसान है।

यदि हम सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधियों के लेखों की रोशनी में मार्क्सवाद की वर्तमान स्थिति को निरखें तो उनमें केवल आपस में ही मतभेद नहीं मिलेगा बल्कि वे अनेक समस्याओं पर एक-दूसरे के मतों का खंडन भी करते हैं और उनकी पुरजोर आलोचना भी। मार्क्सवाद की इस बढ़ती हुई बहुस्वरता के विषय में आपका क्या मत है ?

—इस प्रश्न का कुछ ऐसा आशय है कि मार्क्सवादी दर्शन की यह बहुरूपता निश्चित घटना हो सकती है। इसके बारे में मेरे कुछ अपने विचार हैं। मैं इस नाते तो इसे वस्तुगत मानता हूँ कि प्रत्येक देश में कुछ लोग हैं जो कहते हैं कि 'मैं इस प्रश्न का विश्लेषण करूँगा' या 'उस समस्या पर मेरा एक दृष्टिकोण होगा'। निस्संदेह रूप से यह एक वस्तुगत धराणा है। इसका परिणाम यह है कि जिस मार्क्सवाद का आज उदय हो रहा है उसका स्वरूप है बहुस्वर और बहुरूप और कुछ तो कहेंगे अनेकवादी भी। मैं इसमें एक शंका डाल दूँ। इसलिए कि किसी भी दूसरी चीज़ की तरह मार्क्सवाद भी इस नियम के अंतर्गत आता है कि सत्य एक ही है। इतिहास या तो वर्ग-संघर्ष का इतिहास है या नहीं है। यहाँ वर्ग-संघर्ष के इतिहास के दायरे में कोई भी यह बहस कर सकता है कि इस तरह हुआ या दूसरी तरह। यह तो एक बिलकुल अलग सी बात है। लेकिन हमें यह जानना चाहिए कि वस्तुगत दृष्टि से प्रत्येक प्रश्न में केवल एक ही सत्य हो सकता है। इसलिए मैं वर्तमान बहुरूपता की निंदा नहीं करता, लेकिन सोचता अवश्य हूँ कि हम वर्तमान संकट के सैद्धांतिक समाधान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल प्रारंभिक दौर में हैं। जब तक सत्य तक न पहुँच जायं तब तक प्रवृत्तियों में परस्पर विरोध होगा। किंतु मैं इस पर फिर बल दूँगा कि सत्य केवल एक है। इस बहुरूपता से इतना तो मालूम पड़ता है कि हम सत्य की दिशा में जाने वाले रास्ते पर हैं। फिर भी हमारा गलत बूर्जुआ धारणा को स्वीकार करना, अनेक वाद में एक निश्चित आदर्श पाना और इसे मार्क्सवाद का गुण मानना कि यह आदर्शवादी या भौतिकवादी, कारणात्मक या प्रयोजनवादी, इस ओर या उस ओर इसका फैसला एक दिन अन्त में होगा। इसे हम अनुकूलक पूंजीवाद के लिए छोड़ सकते हैं; यह मार्क्सवाद के अपने अलग सिद्धान्त गढ़ सकता है। यह बात हमें साफ़ होनी चाहिए कि हर मसले में केवल एक ही सत्य है और हम मर्क्सवादी इसके उदय के लिए संघर्ष कर रहे हैं। जब तक इसका उदय नहीं होता तब तक इन प्रवृत्तियों में संघर्ष बना रहेगा। यह और कह दूँ कि मैं शासकीय ढंग से इस प्रक्रिया में तेजी लाने के विरुद्ध हूँ। ये सैद्धांतिक समस्याएँ हैं और इनका निपटारा सैद्धांतिक ढंग से ही होना चाहिए। साथ ही साथ मैं यह जरूर समझता हूँ कि पाश्चात्य अनेकवाद को दूर रखा जाय और यह सिद्धांत अपनाया जाय कि हर सवाल में केवल एक सत्य है। जहाँ तक यूगोस्लाविया का प्रश्न है हो सकता है कि मैं इस सवाल पर आपसे सहमत नहीं हूँ; लेकिन मैं पहले ही कह चुका हूँ कि किसी की सहानुभूति व्यापक सहमति पर निर्भर नहीं रहती बल्कि निर्भर इस पर रहती है कि हम सभी एक ही महान् उद्देश्य की पूर्ति में लगे हुए हैं और तीखे से तीखे वाद-विवाद में जूझने के बावजूद हमें पता है कि इन विवादों का लक्ष्य एक ही है।

अनुवादक : **प्रज्ञ**

['न्यू लेफ़्ट रिव्यू'-६०, मार्च-अप्रैल १९७० से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाज़िम हिकमत की दो कविताएँ

बल्कि वही है दस्तानाहीन, फटे जूतों में चिथड़ों
से ढँके पाँव
लेकिन उसके लिए दुनिया का स्वाद खट्टे गद्दर
सेव के समान है
उसकी हथेलियों में हैं चौदह वर्षीय किशोरी के
दृढ़ कुच
उसकी आँखों में हैं मीलों लंबे गीत
और मृत्यु सिर्फ छह फुट

और उसे रत्ती भर मालूम नहीं है अपना भविष्य
वह तो मैं हूँ सिर्फ जिसे मालूम है कि उसके
भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है
क्योंकि मैंने वे तमाम विश्वास जिये हैं जो वह
जियेगा
मैं उन तमाम औरतों को प्यार कर चुका हूँ जिन्हें
वह प्यार करेगा कभी
मैं वे तमाम कविताएँ लिख चुका हूँ जो वह
लिखेगा,
सो चुका हूँ उन तमाम जेलों में जिनमें वह सोयेगा
गुजर चुका हूँ उन तमाम नगरों से
जहाँ से वह गुजेरगा
मैं उसकी तमाम बीमारियाँ भोग चुका हूँ
सो चुका हूँ उसकी तमाम नींदे, देख चुका हूँ उसके
सभी सपने
आखिरश वह खो देगा सब कुछ जो मैं खो
चुका हूँ।

: १ :

पुश्किन चौराहा

स्त्रे-स्नाय गिरजे का
घंटाघर आधीरात का गजर बजाता है
गोकि घंटाघर और गिरजा
कबके ढहाये जा चुके हैं
उनकी जगह लोगों ने तान दिया है
शहर का सबसे बड़ा सिनेमा हाल

और वहाँ मैं मिला उनतीस बरस के युवा खुद से
आनबान में उसे चीन्ह लेता हूँ
उसका फोटो तक कभी न देखने के बावजूद
तुरंत उसे चीन्ह लेता हूँ, बिना चकित हुए

हम अपने हाथ बढ़ाते हैं
लेकिन हमारे हाथ मिल नहीं पाते
चालीस बरसों के आरपार
चालीस बर्फ हुए वर्ष, असीम कालावधि,
आर्कटिक समुद्र
और वहाँ स्त्रेस्नाय चौराहे पर
—अब पुश्किन चौराहा—
बर्फ पड़ने लगती है

मैं ठिठुर गया हूँ मेरे तमाम हाथ और पाँव
जबकि मैं पहने हूँ मोजे, ऊनी मोजे, जूते और
फरदार दस्ताने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

सबसे मज़ेदार प्राणी

बिच्छू की तरह बंधु
तुम एक बिच्छू की तरह हो
रात के आतंक में

चमगादड़ की तरह बंधु
तुम एक चमगादड़ की तरह हो
अपनी टुच्ची फिक्रों के साथ
कछुए की तरह, मेरे भाई
तुम एक कछुए की तरह हो अपनी खोल में बंद
और खामोश

तुम भयंकर हो बंधु
किसी सोये ज्वालामुखी के मुख की तरह
और तुम कोई अकेले नहीं
या सिर्फ पाँच
तुम करोड़ों हो
तुम भेड़ की तरह हो बंधु
कसाई जब तुम्हारी खाल में सजाबजा
लाठी उठाता है अपनी

कसाईखाने को दौड़ते हो अमूमन किसी भीड़ की
शक्ल में

लगभग गौरवान्वित
सचमुच तुम सबसे मजेदार प्राणी हो
मछली से भी मजेदार
जो समुद्र में रहती है समुद्र से अनजानी
और दुनियां में ढेर सारी मुश्किलें हैं
उसका धन्यवाद तुम्हें बंधु

अगर हम भूखे टूटे हुए हैं,
अगर हम कमबख्त चुसे हुए हैं
अगर हम निचुड़े हुए हैं अपने ही अंगूरों की तरह
मैं इतना आगे नहीं बढ़ूंगा कि कहूँ सब तुम्हारी
वजह से है
लेकिन तो भी काफी हद तक बंधु ।

अनुवाद : सोमदत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रीयतावादी समीक्षक पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

—विष्णुकान्त शास्त्री

"मैने जीवन में व्रत लिया था कि जिन कार्यों को पूर्वज गुरुजन करते रहे हैं, उनकी पूरकता यथासाध्य मेरे द्वारा होती रहे और यदि अवसर मिले तो उनके किये कार्य का उपबृंहण भी करूँ।"[1] आचार्य मिश्र की यह विनम्र स्वीकृति उनकी दृष्टि और उनके कार्य की परिधि का तो सम्यक् निर्देश करती है किन्तु उनकी उपलब्धियों को आवृत भी करती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ०नगेन्द्र, डॉ० रामविलास शर्मा आदि से मिश्रजी का प्रस्थान भेद स्पष्ट है। ये विद्वान् आ० रामचन्द्र शुक्ल के प्रभाववृत्त से ग्रस्त होते हुए भी उससे अपने को मुक्त कर नयी भूमि पर अपने को प्रतिष्ठित करने के आग्रही रहे हैं। शुक्ल जी जैसे **सार्वभौम** आचार्य से टकरा कर अपनी पृथकता प्रतिपादित करने के फलस्वरूप जो लोकमान्यता इन विद्वानों को मिली, मिश्र जी उससे वंचित रहे। प्रायः उन्हें शुक्लानुयायी आलोचक घोषित कर उनके कर्तृत्व की उपेक्षा की जाती रही है। सच्चाई यह है कि मिश्रजी कोरे अनुयायी नहीं हैं, वे अनुविधायी हैं। अपने विशिष्ट क्षेत्र में अपने गुरुओं से कितने गहरे पानी में वे पैठे हैं, इसका समुचित विचार नहीं किया गया है।

इसका एक कारण यह भी है कि मिश्रजी की सीमाएँ जितनी प्रत्यक्ष हैं, उनकी उपलब्धियाँ सामान्य लोकदृष्टि के उतनी ही परोक्ष हैं। वे किसी समसामयिक नयी सर्जनात्मक साहित्य-धारा से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर सके, न छायावाद से, न प्रगतिवाद-प्रयोगवाद आदि से। फलतः वर्तमानप्रिय साहित्यकारों एवं विवेचकों से वे कट-से गये। एक ओर उनका शास्त्राभ्यासी, अतीतभक्त, संस्कारशील चित्त नयी सर्जना को विश्रृंखला एवं अनुकरण का दोषी ठहराता था, दूसरी ओर नया साहित्य पहले स्वच्छन्दतावाद की ओर फिर सामाजिक यथार्थवाद, प्रयोगमूलक व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद आदि की प्रेरणा से परम्परा से विद्रोह करने पर तुला हुआ था। परिणामतः मुख्यतः मध्ययुग के हिन्दी काव्य के विवेचक एवं परम्परागत साहित्यिक औचित्य के समर्थक मिश्रजी से उनकी नहीं पटी। स्पष्टवक्ता, स्वाभिमानी मिश्र जी के लिए किसी दल में शामिल होना भी संभव न था, फलतः वे दलबन्दी के दुराग्रहों के भी शिकार हुए।

जो हो, तात्कालिक लाभ के लिए अपनी मान्यताओं से न तो मिश्रजी विचलित हुए, न समुचित प्राप्य के न मिलने पर भी कार्य से विरत ही। एकनिष्ठ साधक की तरह वे अपने उस क्षेत्र में जुटे ही रहे, जिसमें "परिश्रम अधिक है और प्राप्ति थोड़ी। पहाड़ खोद कर चुहिया पानी है। न यश ही अधिक और न अर्थोपलब्धि ही पुष्कल।"[२] आज नहीं तो कल का निष्पक्ष विचारक यह घोषित करेगा कि मध्यकालीन, विशेषतः शृंगारकालीन हिन्दी काव्य की मर्मज्ञता, विवेचना एवं संपादना के क्षेत्र में आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अप्रतिद्वन्द्वी हैं।

मिश्रजी को अपने पारिवारिक संस्कारों से परम्परा के प्रति श्रद्धा एवं समाज के चले आते नैतिक सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आस्था प्राप्त हुई थी। परम्परा के प्रति विद्रोही होकर नवीन परिवर्तनों के हामी वे न बने। सशस्त्र क्रान्तिकारी आन्दोलन के सम्पर्क में वे जरूर आये किन्तु वह क्षेत्र उनका न था। महात्मा गांधी और उनसे भी अधिक महामना मालवीय के प्रभाव से संरक्षणशील राष्ट्रीयता एवं प्राचीन भारतीय मर्यादा के वे पुजारी बने। उनकी इन भावनाओं को साहित्यिक क्षेत्र में दृढ़ किया उनके प्रथम एवं साहित्यिक संस्कारनिर्माता गुरु लाला भगवान दीन ने। मिश्रजी के ही अनुसार, "दीनजी काव्य रचना में रीतिकाल के पूरे प्रतिनिधि थे, पर रहन-सहन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्तिकाल के प्रतिनिधि। आधुनिक काल का प्रभाव उन पर कुछ भी नहीं पड़ा था।"[3] पन्द्रह वर्ष की अवस्था में सन् '२१ में मिश्रजी दीनजी के शिष्य बने और सन् '२८ तक एकमात्र उन्हें ही अपना साहित्यिक आदर्श मानते रहे। दीनजी ने मध्यकालीन काव्य में उनका सम्यक् प्रवेश कराया, उसके प्रति गहरी निष्ठा उत्पन्न की। काव्य का अर्थ समझने समझाने की क्षमता, काव्य शास्त्रीय परम्परा के निर्वाह के प्रति आग्रह, प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन, प्रकाशन के प्रति कर्तव्य बोध, टीका, भाष्य के प्रति झुकाव, निर्भीक, दबंग समीक्षा का साहस तथा परम्परा-विरुद्ध नवीनता का विरोध आदि प्रवृत्तियाँ मिश्रजी को दीन जी से ही मिलीं।

आ० रामचन्द्र शुक्ल के सम्पर्क में वे १९२८ में आये। शुक्लजी का भी उन पर गहरा प्रभाव है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि शुक्लजी उनके साहित्यिक संस्कारों के संशोधक भर हैं, निर्माता नहीं। शुक्लजी से मिश्रजी ने जो बहुत-सी बातें सीखीं उनमें मुख्य हैं काव्य में लोकमंगल का आग्रह, ऐतिहासिक परिवेश में कृति की प्रतिष्ठा, साहित्येतिहासशोधन, प्राचीन समीक्षा सिद्धान्तों का अभिनवीकरण, पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों में-से अनुकूल का समन्वय, प्रतिकूल का विरोध, व्यावहारिक विश्लेषणात्मक समीक्षा प्रणाली आदि। शुक्लजी के निर्णय, कम-से-कम आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में, उनके लिए अन्तिम थे। मिश्रजी के ही शब्दों में, "उन्होंने (शुक्लजी ने) अपनी स्थापनाओं में जो पकड़ अपनाई, वह अपरिवर्तनीय है। वे पहाड़ की ऐसी चट्टान थे, जिस पर आघातों का प्रभाव नहीं पड़ता या युगों के प्रहार भी जिस पर अल्प प्रभाव ही डाल पाते हैं।"[4] आधुनिक काव्य के सम्बन्ध में दीनजी का मत शुक्लजी से भी कहीं अधिक अनुदार था, स्वयं मिश्रजी भी आधुनिक काव्य के प्रति सहानुभूति सम्पन्न न थे, अतः आधुनिक साहित्य के बारे में शुक्लजी के निर्णयों को अभ्रान्त मान लेने में उन्हें दुविधा न हुई किन्तु रीतिकालीन कवियों......विशेषतः केशव के सम्बन्ध में शुक्लजी के निर्णय दीनजी से प्राप्त संस्कारों के विरुद्ध जाते थे। दुराज में पड़ी प्रजा के समान ही दुचित्ते मिश्रजी ने अपनी आरम्भिक कृतियों में दीन-शुक्ल मत का समन्वय करना चाहा है, किन्तु अपनी प्रौढ़ कृतियों में वे केशव के सम्बन्ध में शुक्लजी की पकड़ को अपरिवर्तनीय नहीं मान सके हैं। इसका निष्कर्ष यही है कि मिश्रजी की काव्यदृष्टि मूलतः दीनजी की मान्यताओं के अनुरूप ही है, शुक्लजी से प्राप्त संस्कारों ने उसे परिमार्जित, परिष्कृत-भर किया है।

मिश्र जी की जीवन-दृष्टि अतीतोन्मुखी है। आ० शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक अपने लेख में बताया है कि मनुष्य इस भूलोक के भीतर भावना या कल्पना की पूर्णता 'अतीत के क्षेत्र में' या 'भविष्य के गर्भ में' ही मान सकता है। पहली धारणा पूरबी (एशियाई) जातियों में अब तक मूलबद्ध है जबकि दूसरी धारणा बिल्कुल आधुनिक है और मुख्यतः यूरोपीय देशों द्वारा प्रचारित हुई है। अतीत के राग की प्रबलता को स्वीकार करते हुए भी दूसरी धारणा पर शुक्लजी की टिप्पणी है, "यह मंगलाशा बहुत ही प्रशस्त भाव है, इसमें सन्देह नहीं......"[5] खेद है कि इस प्रशस्त भाव का मिश्रजी पर प्रभाव नहीं पड़ा। मिश्रजी की मान्यता है, "वर्तमान कुछ है ही नहीं और भविष्य का निश्चित रूप नहीं......भविष्य का अनुमान अतीत के आश्रय पर ही होता है। अतः सारा संसार तो अतीत के ऊपर ही रह जाता है।"[6] अतीत के प्रति यह मोहाच्छन्न दृष्टि अतीत से प्रेरणा ग्रहण करते हुए किन्तु नवीन आशा आकांक्षाओं के अनुरूप भविष्य का निर्माण करने के स्थान पर अतीत की ओर लौटने का आग्रह करती है। पर अतीत-जीविता से तो संस्कृति का विकास नहीं हो सकता, इसीलिए मिश्रजी हिन्दी साहित्य के वर्तमान को अधिक प्रभावित करने में या उसके भविष्य को अपनी अभीष्ट प्रतिमा के अनुरूप गढ़ने में समर्थ नहीं हो सके।

साहित्य के लक्ष्य और सामर्थ्य के सम्बन्ध में मिश्रजी की मान्यता आदर्शवादी एवं भावुकतापूर्ण है। तुलसीदास के छन्ने से मम्मट को छान कर उन्होंने लिखा है, "काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन क्या है? यही न कि रसानुभूति के द्वारा चित्तविश्रान्ति हो और रसानुभवकर्ता सामाजिक का जीवन मंगलमय हो, अपने लिए भी और समाज के लिए भी।"[7] स्पष्ट है कि उच्चतर सांस्कृतिक मूल्यों से युक्त आनंद-परिवेशन को वे साहित्य के लिए अनिवार्य मानते हैं, कोरे यथार्थ चित्रण या सतही मनोरंजन को वे श्रेयस्कर नहीं मानते। उनके सांस्कृतिक मूल्य भी भारतीय परम्परा से उद्भूत हैं। इस पर मेरी टिप्पणी यही है कि मैं इस सांस्कृतिक मूल्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना की परिधि का और विस्तार चाहता हूँ, इसे स्थिर न मान कर गत्यात्मक मानना चाहता हूँ तथा इसमें केवल मात्रात्मक विकास ही नहीं, विविध सांस्कृतिक चेतनाओं की टकराहट से उत्पन्न गुणात्मक विकास की संभावना को भी स्वीकार करने के पक्ष में हूँ।

साहित्य की क्षमता के सम्बन्ध में मिश्रजी की यह धारणा कि, "अतः यह कहने में कोई बाधा नहीं कि साहित्य ही संसार को सँभाल सकता है। वह धर्म, अर्थ काम और मोक्ष सब का दाता है। उसी में परम पुरुषार्थ है।"[8] अतिशय भावुकतापूर्ण है। वस्तुगत समग्र दृष्टि से विचार करने पर यह तो निर्विवाद रूप से मान्य है कि मनुष्य के आन्तरिक जीवन के निर्माण में साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान है किन्तु संसार के नवनिर्माण और नियंत्रण में उसकी भूमिका प्रेरक एवं सहायक की रही है, निर्णायक की नहीं। वर्तमान युग में तो उसका महत्व और कम हुआ है।

साहित्यिक सौन्दर्य सम्बन्धी प्रतिमान केशव, बिहारी, पद्माकर, घनानंद के काव्यानुशीलन से उन्हें प्राप्त हुए हैं। फलतः उन्होंने चारुत्व एवं अनुभूति के समन्वय की चेष्टा की है। सुनने में बात अटपटी लग सकती है, किन्तु मेरी धारणा है कि इन दोनों में उन्होंने जो अनुभूति को प्रधानता दी है, उसके मूल में छायावाद का भी प्रभाव है। तुलसी, शुक्ल एवं गांधी युग के संस्कारों के कारण चारुत्व एवं अनुभूति को औचित्य तथा लोकमंगल से सम्पुटित करने का आग्रह स्वाभाविक ही है।

समीक्षा के मानदंड उनके प्रायः वे ही हैं जो शुक्लजी के हैं। रस सिद्धान्त का समुचित विकास कर उसके आधार पर अपना नया आलोचना शास्त्र हिन्दी के समीक्षक गढ़ें, यह उनका आग्रह रहा है। उन्होंने खेद के साथ लिखा है, "पश्चिमी आलोचना का पदानुसरण करने का फल यह है कि यहाँ नया आलोचना शास्त्र नहीं बन रहा है।"[9] राजशेखर के सूत्र 'अन्तर्भाष्यं समीक्षा अवान्तरार्थ विच्छेदश्च सा'[10] पर टिप्पणी करते हुए मिश्रजी ने लिखा है, "भीतरी व्याख्या हो, गहरी छानबीन हो, उससे हट बढ़ कर इधर-उधर भटका न जाए, तभी कोई विचार समीक्षा है"।[11] समीक्षा में समीक्ष्य के आंतरविश्लेषण पर विशेष बल देते हुए भी, उसके सम्बन्ध में ज्ञातव्य आवश्यक बाह्य तथ्यों का समाकलन भी उन्हें इष्ट है।

उच्चस्तरीय प्राध्यापन के कारण भी उनकी इस प्रवृत्ति को बल मिला। अपने विषय के सम्यक् ज्ञान एवं उसके मूल स्रोतों के गहरे मन्थन के फलस्वरूप वे उसकी समुचित विवेचना के उपयुक्त पुष्ट आधार भूमि प्रस्तुत करते रहे हैं। स्पष्टतः यह पांडित्य का क्षेत्र है। उनकी प्रमुख कृतियाँ मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर ही हैं। अब आधुनिक काल में न केवल साहित्य के आदर्श ही बदले बल्कि हिन्दी में उसका माध्यम भी बदल गया। स्वभावतः आधुनिक पाठकों एवं छात्रों के लिए हमारा मध्यकालीन साहित्य अधिक दुरूह हो गया। अपने विषय के प्रति समादर की भावना जगाते हुए उसके सुग्राह्य विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण के प्रति मिश्रजी का आग्रह भी उनके प्राध्यापक धर्म से प्रभावित है।

यह भी स्मरणीय है कि मिश्रजी का विकास अतिशय कर्मठ आदर्शवादी साहित्यिक परिवेश में हुआ। हिन्दी के विकास के लिए समर्पित विद्वानों के जीवन्त साहचर्य में वे रहे। उनके हिन्दी के प्राध्यापकों में रहे हैं, डॉ० श्याम सुन्दर दास, आ० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवान दीन, आ० केशवप्रसाद मिश्र, हरिऔध आदि और सहयोगियों में पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, नन्द दुलारे वाजपेयी, चन्द्रबली पांडेय आदि। एक ओर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग, दूसरी ओर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। वैदुष्य के अर्जन और उसके सार्थक प्रकाशन के ऐसे समर्थ क्षेत्रों से सम्बद्ध रहने के कारण वे निरन्तर परिश्रमपूर्वक साहित्य सेवा में रत रहे। साहित्यिक कार्य उनका पेशा न होकर नशा बन गया। केवल सूखा कर्तव्य बोध ही नहीं, आनन्द पाने और देने का माध्यम भी बनी उनकी साहित्य सेवा।

मिश्रजी को शास्त्रीयतावादी कहने का अभिप्राय यही है कि वे साहित्य से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति के लिए—चाहे वह साहित्यकार हो, या समीक्षक या भावुक ग्रहीता मात्र—साहित्य शास्त्र के अनुशीलन को अनिवार्य और उसके मार्ग-निर्देशन को श्रेयस्कर मानते हैं। शास्त्र उनकी दृष्टि में हितशासक है। यह ठीक है कि शास्त्र साहित्य के बाद बनता है किन्तु वास्तविक शास्त्र-निर्मातागण अपनी प्रखर अन्तर्दृष्टि के द्वारा साहित्य का गम्भीर मंथन करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरान्त उसके जिन आधारभूत तत्वों का प्रतिपादन करते हैं, उनका सम्यक् ज्ञान एक ओर कर्ता की निपुणता की, दूसरी ओर ग्रहीता की आस्वादन-क्षमता की वृद्धि करता है। यदि समीक्षक साहित्य शास्त्र से अनभिज्ञ होता है तो उसके सामने कवि के गुण कुंठित हो जाते हैं, उसका उद्गार 'अविचारित रमणीय' भले हो, 'विचारित सुस्थ' नहीं हो पाता।

किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वे कोरे शास्त्र-वादी नहीं हैं। उनका सुचिन्तित मत है, "साहित्य शास्त्र का इतना महत्व होते हुए भी किसी निर्माता का शास्त्र-स्थिति के संपादन में प्रवृत्त होना वांछनीय नहीं। ऐसे ही शास्त्र के चिंतन-मनन का अभ्यास करने पर भी ग्रहीता को काव्य में शास्त्रस्थिति संपादन का अनुसंधान नहीं करना चाहिए। शास्त्र मार्ग-निर्देशन के लिए है। उसके विशेष आग्रह से काव्य बिगड़ता है और उसके विशेष हठ से कवि की स्वच्छंदता का अपहनन होता है।" [12]

इससे स्पष्ट है कि उनका आग्रह मूलभूत शास्त्रीय तत्वों के स्वायत्तीकरण पर है, उन्हें अपनी प्रतिभा का अंग-भूत बना कर उनके स्वाभाविक उपयोग पर है, उनके अन्धानुकरण या बलपूर्वक आरोपण पर नहीं। साहित्य-परम्परा एवं शास्त्रीय तत्वों से अनभिज्ञ रहने वालों या उनकी मनमानी अवहेलना करने वालों की भर्त्सना मिश्रजी ने की है, किन्तु उनसे अनभिज्ञ होकर उनका अतिक्रमण करने वाले घनानंद, बोधा ठाकुर आदि की उन्होंने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। इसी तरह वे यह भी मानते हैं कि शास्त्रों की व्यवस्था में संशोधन एवं विकास की गुंजाइश है और बराबर रहेगी। वे स्वच्छन्दतावादियों की तरह स्वानुभूति को अन्यापवर्जी सर्वोपरि तत्व नहीं मानते, यथार्थवादियों की तरह साहित्य के उदात्त तत्व एवं रूप पक्ष को उपेक्षणीय नहीं मानते। साहित्य को स्वतंत्र विद्या मानने के कारण उसके परम्परागत शास्त्रीय तत्वों के अनुशीलन द्वारा अनुभूति को अनुशासित, दृष्टि को लोक-मंगल एवं सामाजिक औचित्य से अभिमंडित तथा अभि-व्यक्ति को सुचारु एवं परिष्कृत बनाने के पक्ष में वे हैं। इसीलिए मैंने उन्हें शास्त्रवादी न कहकर शास्त्रीयतावादी कहा है।

यह भी उल्लेखनीय है कि मिश्रजी के लिए साहित्य शास्त्र का अर्थ मुख्यतः भारतीय साहित्य शास्त्र है जिसका मौलिक रूप संस्कृत काव्य शास्त्र है। पश्चिमी साहित्य शास्त्र का अध्ययन, विवेचन उन्होंने प्राध्यापकीय धर्म-निर्वाह की दृष्टि से ही किया है। पश्चिमी काव्य सिद्धान्तों के प्रति उनकी आस्था नहीं है। उसके श्रेण्यतावादी शास्त्र चिन्तन के प्रति उनकी कुछ सहानुभूति है किन्तु उसकी स्वच्छन्दतावादी, रहस्यवादी, यथार्थवादी साहित्य दृष्टि का उन्होंने विरोध ही किया है। फिर भी साहित्यिक पांडित्य के कई क्षेत्रों यथा गवेषणामूलक साहित्येतिहास लेखन, साहित्यकार की वैयक्तिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में उसके साहित्य का विवेचन, प्राचीन ग्रंथों के पाठालोचन आदि में उन्होंने पश्चिम के ऋण को उसी तरह स्वीकारा है, जिस तरह व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में। इसका अर्थ यही है कि पश्चिमी उपकरण उन्हें स्वीकृत हैं, किन्तु पश्चिमीकरण नहीं।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने परम्परागत ज्ञान के सुष्ठु परिवेशन (वाङ्मयविमर्श, काव्यांगकौमुदी) के साथ-साथ उसे व्यवस्थित एवं विकसित करने का भी प्रयास किया है। विभिन्न भारतीय साहित्यिक सिद्धान्तों को चारुत्व प्रवाह एवं अनुभूति प्रवाह में विभक्त कर उनके पारस्परिक सम्बन्धों का स्पष्टीकरण, स्वयं रसवादी होते हुए भी औचित्य की परिधि के अन्तर्गत उनका निरूपण आन्तरिक व्यवस्था की दृष्टि से उनकी उल्लेख योग्य उपलब्धि है।

हिन्दी के रीति ग्रंथकार आचार्यों की साहित्य शास्त्र सम्बन्धी अपूर्णताओं, त्रुटियों तथा मूल संस्कृत ग्रंथों की अनुकृतियों का निर्देशन भी उन्होंने साधिकार किया है।

मिश्रजी के अनुसार, "रस मीमांसा और भी विकसित की जा सकती है और आलोचना के काम भी आ सकती है···अधिक अध्ययन सापेक्ष, श्रमसाध्य और विचारित सुस्थ वह अवश्य है।" [13] इस दिशा में उनकी एक बड़ी देन आ० रामचन्द्र शुक्ल के रस सम्बन्धी बिखरे एवं अप्रकाशित विचारों को अत्यन्त परिश्रमपूर्वक संकलित कर पूर्वापर बैठाकर 'रसमीमांसा' के नाम से प्रकाशित करवाना है। हिन्दी के स्वतंत्र साहित्य शास्त्र के निर्माण में इस ग्रंथ द्वारा वास्तविक पहल हुई है। शुक्लजी के विचारों से अतिशय प्रभावित होने के कारण मिश्रजी ने अपनी कृतियों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान-स्थान पर उनका पल्लवन तो किया ही है, अपनी ओर से उनको योग भी दिया है। रसभूमि को लौकिक सामाजिक भूमि सिद्ध करना तथा देश-प्रेमपरक रचनाओं को दास्य रस के अन्तर्गत एवं समाज सुधार, समाज सेवा··· यहाँ तक कि समाजवादी रचनाओं को पुराने मायारस के नवीन संस्करण 'समाज रस'[14] के अन्तर्भुक्त करने का आग्रह इसके प्रमाण हैं। मिश्रजी के इन सुझावों से मतभेद संभव है किन्तु अपने स्वतंत्र साहित्य शास्त्र के निर्माण के लिए उनका यह दिशासंकेत मननीय है, "आधुनिक युग में समन्वित विवेचन होने के पूर्व भारतीय रस मीमांसा और पश्चिमी कलामीमांसा का पृथक्-पृथक् ऐतिहासिक विवेचन तटस्थ और विदग्ध बुद्धि से हिंदी में होना चाहिए। फिर दोनों की परस्पर तुलना और युगानुरूप ग्राह्यता का विचार होना चाहिए।"[15]

मध्यकालीन···विशेषतः उत्तर मध्यकालीन ग्रंथों के पाठालोचन एवं संपादन में मिश्र जी प्रथितयश हैं। उन्हें अपने गुरुओं—दीनजी एवं शुक्लजी—से पाठनिर्धारण की जो पद्धति प्राप्त हुई थी, उसे वे 'साहित्यिक' कहते हैं। अधिक पारिभाषिक शब्दों में उसे 'सरल पाठ परंपरावादी' कहा जा सकता है जिसमें कठिन अप्रचलित शब्दों का अर्थ न समझने के कारण या उसे व्याकरण, छन्द, साहित्य परम्परा आदि की दृष्टि से अशुद्ध अथवा सदोष मानने के कारण या खंडित पाठ को पूर्ण करने की सम्पाद की सदाशयता के कारण सम्पादक परिवर्तन, परिवर्धन कर देता था। अपने प्रथम सम्पादित ग्रन्थ 'पद्‌माकर पंचामृत' के प्रवचन में मिश्र जी ने लिखा है, "हिम्मत बहादुर विरुदावली' की जो प्रति लाला भगवान दीनजी के पास थी, उसमें कई स्थलों पर कुछ पंक्तियाँ नहीं थीं, इसलिए उन्होंने उनकी पूर्ति अपनी ओर से कर दी थी, हमने उन पंक्तियों को ज्यों-का-त्यों इसमें रख दिया है।"[16] 'जगद्विनोद' आदि ग्रन्थों में कुछ शीर्षक छूट गये-से उन्हें प्रतीत हुए थे, अतः गुरु परम्परा के अनुरूप ही सम्पादक के दायित्व का निर्वाह उन्होंने किया। उनके ही शब्दों में, "इन्हें पद्‌माकर की शैली के अनुरूप जोड़कर उसमें एकता लाने का प्रयत्न किया गया है।"[17]

किन्तु पाठालोचन विज्ञान के विकास के कारण ऐसे सदाशयतापूर्ण प्रयासों का भी अनौचित्य साफ-साफ झलकने लगा। विदेशों की चर्चा यदि न भी की जाय तो भी भारत में श्री सुकठनकर के भगीरथ प्रयास द्वारा महाभारत के मूल पाठोद्धार में बहुत दूर तक मिली सफलता का व्यापक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। हिन्दी में डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने रामचरित मानस (१९५०), जायसी ग्रन्थावली (१९५३ ई०), बीसलदेव रासो आदि का वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादन कर आधुनिक अर्थों में पाठालोचन का प्रवर्तन किया। इस वैज्ञानिक पद्धति में पाठालोच्य ग्रन्थ के अधिकाधिक संख्या में यथासंभव प्राचीन हास्तलेखों का संग्रह कर उनकी प्रतिलिपि परम्पराओं का वर्गीकरण कर अधिक प्रामाणिक हस्तलेखों के आधार पर 'पाठ-चयन' किया जाता है जिससे क्षेपकों और विकृतियों का निराकरण कर स्वयं कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों और उसके विविध रूपों तक पहुँचा जा सके। मिश्र जी को यह वैज्ञानिक पद्धति अस्वीकार्य तो नहीं है किन्तु वे केवल लिखित शब्दों पर अतिशय बल देने एवं अर्थ की उपेक्षा करने के विरोधी हैं। ऐसी स्थिति में इस पद्धति के यांत्रिक...जड़ हो जाने का खतरा है, जो अभीष्ट फल की प्राप्ति में बाधक है। इसीलिए उनकी घोषणा है, "···कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से मानस क्या हिन्दी के किसी ग्रन्थ का ठीक संपादन नहीं हो सकता।"[18]

दूसरी तरफ कोरी साहित्यिक पद्धति के दोष और भी प्रत्यक्ष थे। मिश्रजी की ही स्वीकृति है, "साहित्यिक सरणि में सब से बड़ा दोष यह है कि इसमें यदि कोई सूझ अपने ढंग की हो गई, कवि या कर्ता की पद्धति पर न हो सकी, तो वह कुछ-की-कुछ हो जाएगी। गणेश के स्थान पर वानर हो जाएगा।"[19]

अतः मिश्र जी का निर्णय है, "वैज्ञानिक पद्धति की निरहंकारता जिस प्रकार दोषपूर्ण है उसी प्रकार साहित्यिक पद्धति की साहंकारता।...इसलिए दोनों प्रणालियों का समन्वय ही श्रेयस्कर है, किसी एक पर चलने से समुचित कार्य संपादन नहीं हो सकता।"[20] इस समन्वय की प्रणाली को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है, "वैज्ञानिक प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देती है और साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर ध्यान देते हुए भी अर्थ पर विशेष दृष्टि रखती है। साहित्य शब्द और अर्थ का संपृक्त रूप होता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों पर समान दृष्टि ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन ग्रन्थों के संपादन में उपयोगी हो सकती है। वैज्ञानिक सरणि के नियम का इतना ही सदुपयोग या पालन हो सकता है कि संपादक किसी शब्द को हस्तलेखों में न मिलने पर अर्थबल पर न बदल सके।"[21]

मिश्र जी की यह स्थापना सर्वथा संगत प्रतीत होती है। ऐसा तो नहीं है कि वैज्ञानिक पद्धति में अर्थ का विचार होता ही न हो[22], किन्तु यह ठीक है कि उसमें 'पाठचयन' ही मुख्य है, सभी उपलब्ध पाठ असन्तोषजनक प्रतीत होने पर भी वैज्ञानिक सम्पादक अर्थानुसन्धान के बल पर मूलपाठ की कल्पना करने का साहस प्रायः नहीं कर पाता जबकि साहित्यिक परम्परा से अभिज्ञ संपादक ऐसी स्थिति में अधिक सार्थक निर्णय कर सकता है। उदाहरणार्थ डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने पद्मावत की एक पंक्ति का निम्नलिखित पाठ स्थिर किया था, "चंदन चोप पवन अस पीऊ। भइउ चित्र सम कस भा जीऊ।" (पद्मावत ३२३/७) अर्थ की दृष्टि से गंभीर एवं साहित्यिक परम्परा के अनुकूल विचार करने के कारण डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'चित्र सम' के स्थान पर 'चतुरसम' (चन्दन, केशर, कस्तूरी, अगर को मिलाकर बनाई गई सुगन्धि) पाठ का सुझाव दिया,[23] जिसे पद्मावत की व्याख्या करते समय डॉ० गुप्त ने साभार स्वीकार कर लिया।

इसी तरह मानस की एक पंक्ति का डॉ० गुप्त तथा अन्य सभी सम्पादकों (एक पं० शंभुनारायण चौबे को छोड़ कर) द्वारा स्वीकृत पाठ था। 'चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहु सुभग सावन घन राजी।' 'घंट बिराजी' व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्ध है किन्तु अधिकांश प्राचीन हस्तलेखों से चयन की विवशता के कारण सम्पादकों को उसे ही स्वीकार करना पड़ा था। काशिराज संस्करण के लिए मानस के हस्तलेखों का निरीक्षण परीक्षण करते समय मिश्रजी को दो हस्तलेखों में 'घंट' के स्थान पर 'घय' पाठ मिला। मिश्रजी की अर्थानुसन्धानकारिणी साहित्यिक कल्पना जाग्रत हुई। उन्होंने 'गज घंट' को 'गज घटा' कर दिया। अपने निर्णय की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा, "घय पाठ तत्त्वतः लिखावट की त्रुटि है, मूल पाठ 'घटा' है। 'टा' लिखने में 'ट' की टाँग आकार की पाई से जा मिली और 'घटा' के साथ दुर्घटना घटित हो गई। 'घय' को अनर्थक समझ कर 'घंट' बनाया गया। व्याकरण के घटाटोप पर भी किसी ने ध्यान नहीं दिया। संस्कृत में गजघटा-घनघटा का युगपत वर्णन अनेकत्र है। तुलसीदास ने उसी का अनुग्रहण किया है।"[21]

वस्तुतः 'पाठालोचन' इस सीमा तक विज्ञान नहीं है कि वह व्यक्ति-निरपेक्ष हो सके। तुल्यबल स्रोतों से प्राप्त दो पाठों में से सन्दर्भ के अनुकूल कौन अधिक संगत है, या कोई प्रदत्त पाठ विकृति है कि लिपिक का प्रसाद कि लेखक की विशेषता···इन और ऐसी समस्याओं का सही समाधान सम्पादक की साहित्यिक विदग्धता ही कर सकती है। अतः यह बेखटके कहा जा सकता है कि 'पाठालोचन' के सम्बन्ध में मिश्रजी की दृष्टि निर्भ्रान्त है। और फिर इस क्षेत्र में उन्होंने काम कितना किया है। भूषण, रसखानि, घनानन्द, भिखारी दास, पद्माकर आदि की ग्रंथावलियाँ उनके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुकी हैं। जसवंतसिंह एवं आलम की ग्रंथावलियाँ शीघ्र प्रकाश्य हैं। डेढ़ सौ के करीब हस्तलेखों के आधार पर मिश्र जी द्वारा सम्पादित रामचरित मानस का काशिराज संस्करण पाठालोचन के क्षेत्र में हिन्दी की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

'पद्माकर पंचामृत' से मानस के 'काशिराज संस्करण' तक की लम्बी यात्रा (जो उसके बाद भी जारी है) इस क्षेत्र में उनके निरन्तर विकास की सूचिका है। इस अतिशय परिश्रमसाध्य एवं नीरस किन्तु आधारभूत कार्य में जिस लगन और विवेक के साथ वे संलग्न रहे हैं उसके कारण अपने गुरुओं से ही नहीं अपने समकालीनों से भी इस दिशा में वे कहीं आगे निकल गये हैं।

पाठ निर्धारण के अतिरिक्त कवि और काव्य को समुचित सन्दर्भ में रखने एवं बोधगम्य बनाने के लिए इन ग्रन्थावलियों में प्रायः आरंभ में विस्तृत भूमिका तथा अन्त में चूर्णिका का संयोजन भी उनके साहित्यिक पांडित्य का ही प्रमाण है। चूर्णिका में केवल कठिन शब्दों का ही नहीं कठिन पंक्तियों का भी स्पष्टीकरण किया गया है। रसिकप्रिया, भाषा भूषण आदि की टीका भी उन्होंने की है। शुक्ल-दीन की प्रेरणा इसके मूल में है, यह सही है, किन्तु काव्य के आन्तर-अध्ययन की सूक्ष्मता की जो बानगी उन्होंने 'अद्भुत एक अनूपम बाग, की विस्तृत व्याख्या द्वारा या 'मानस बिंदु, के अन्तर्गत रामचरित मानस की बहुत-सी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिल चौपाइयों की विवेचना के द्वारा पेश की है, उनसे उनका वैशिष्ट्य झलकता है। घनानंद के जिन छन्दों को शुक्लजी ने भी 'आब्सक्योर' (अस्पष्ट) कहकर छोड़ दिया था उनकी स्पष्ट व्याख्या करने का श्रेय मिश्रजी को प्राप्त है। इसी तरह भिखारीदास के चित्रालंकारों तथा जमाल दोहावली की अंकाक्षरी विद्या का रहस्यभेदन उन्हीं के बूते की बात थी। श्रृंगारकालीन काव्य के शुक्लोत्तर समीक्षक तो कई हैं, किन्तु मिश्रजी के सदृश उसके मर्मज्ञ पंडित होने का प्रमाण और किसी ने नहीं दिया है।

साहित्येतिहास लेखन तथा साहित्यिक तथ्यों का अनुसन्धान भी साहित्यिक पांडित्य के ही अन्तर्भुक्त कार्य है। मिश्रजी ने इन क्षेत्रों में भी अपनी प्रतिभा का प्रौढ़ परिचय दिया है। यह ठीक है कि 'हिन्दी साहित्य का अतीत, (दो भाग) तथा 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' मिल कर हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं बन जाते क्योंकि वे समय-समय पर लिखे गये फुटकर निबंधों के संग्रह मात्र हैं, जिन्हें काल-क्रम एवं साहित्यिक धारा को दृष्टिगत रखते हुए उन ग्रंथों में सँजो दिया गया है, किन्तु यह भी ठीक है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास को अधिक व्यवस्थित एवं अधिक निर्दोष बनाने वाली सामग्री उनमें प्रभूत मात्रा में है।

साहित्येतिहास सम्बन्धी उनके कार्य शुक्लजी के इतिहास की दृष्टि और ढाँचे के अन्तर्गत ही किये गये हैं। शुक्लजी के ही अनुरूप सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा के बावजूद साहित्येतिहास की मूलतः व्यक्ति-प्राधान्यवादी दृष्टि से ही वे विवेचना करते हैं, समाज-प्राधान्यवादी दृष्टि से नहीं; सिद्धों, नाथों तथा निर्गुणियों की अधिकांश 'बानियों' को साहित्य के अन्तर्भुक्त नहीं करते, आदि आदि। अपने अनुसंधान या विमर्श के कारण यदि उन्हें कुछ नये तथ्य मिले हैं या नये वर्गीकरण संगत प्रतीत हुए हैं तो उन्होंने यथास्थान उनको समाविष्ट कर दिया है। नवाविष्कृत तथ्यों के कारण यदि पुरानी मान्यता कटती हो तो उसके समर्थन का हठाग्रह भी नहीं करते। शुरू-शुरू में आदिकाल का नाम 'वीर काल' रखने का प्रस्ताव करने के बावजूद अधिकांश रासो काव्य के अप्रामाणिक या परवर्ती सिद्ध हो जाने पर उन्होंने भी यह मान लिया है कि, "आदिकाल का नाम वीरगाथाकाल सटीक नहीं कहा जा सकता।"[26] सच कहा जाय तो आदिकाल और भक्तिकाल के सम्बन्ध में यत्र-तत्र अपने विशिष्ट मत की अभिव्यक्ति (यथा विद्यापति को हिंदी का आदिकवि मानना) के अतिरिक्त उन्होंने मुख्यतः ज्ञात सामग्री को ही अपने ढंग से व्याख्यात किया है। अलबत्ता तुलसीदास के सम्बन्ध में गौतम चन्द्रिका एवं प्रेमरामायण के आधार पर कुछ नये तथ्य सामने रखे हैं[27]; यथा तुलसी का जन्म सं० १६०० में हुआ था, उन्होंने यमुना तट पर यमुना नामक स्त्री से विवाह किया था, आदि आदि। मेरी समझ में इनकी स्वीकृति के पूर्व 'गौतम चन्द्रिका' की प्रामाणिकता की पूरी छानबीन अपेक्षित है। तुलसी सम्बन्धी सोरों सामग्री का खंडन एवं 'तुलसी ने अपभ्रंश के कवि स्वयंभू की रामायण का अनुगमन किया था' राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रचारित इस भ्रान्ति का निराकरण भी, तथ्यों को सामने लाने की दृष्टि से उनके उल्लेख्य कार्य हैं।

वास्तव में समीक्षा, पाठालोचन आदि की ही तरह इतिहास विवेचन की दृष्टि से भी उनकी सब से ठोस देन रीतिकाल या श्रृंगार काल के सम्बन्ध में ही है।

यह सुविदित तथ्य है कि स्वयं आ० रामचन्द्र शुक्ल 'रीतिकाल' नाम से बहुत सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने स्वीकार किया है, "रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परंपरा चली है, उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है।"[28] उन्होंने यह आशा भी प्रकट की थी कि, "बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्य्यालोचना करने पर आगे चल कर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय..." शायद इसी असन्तोष केक ारण रीतिकाल के स्थान पर किसी अधिक व्यापक एवं उपयुक्त नाम की उनकी खोज जारी थी और उन्होंने ही एक विकल्प सुझाव देते हुए लिखा था, "वास्तव में श्रृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल (रीतिकाल) में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृंगार काल कहे तो कह सकता है।"[29] इन्हीं संकेतों पर कार्य करते हुए मिश्रजी ने रीतिकाल के स्थान पर श्रृंगार काल नाम को स्वीकार करने के पक्ष में पुष्ट युक्तियाँ दीं। रीति को इस काल के वर्ण्यविषय के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मार्थ का बोधक मान कर उन्होंने 'शृंगार' को उस का आभ्यन्तर वर्ण्य माना। प्रधानता बाहरी ढाँचे की न होकर भीतरी कथ्य की होती है और किसी काल की प्रधान और बहुव्यापक प्रवृत्ति के आधार पर ही उसका नामकरण होना चाहिए। अतः रीति काल के स्थान पर शृंगार काल नाम स्वीकार करने पर उन्होंने बल दिया क्योंकि इस नाम के कारण घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर, द्विजदेव जैसे प्रमुख कवि फुटकल खाते से निकल कर प्रतिनिधि कवियों में आ जाते हैं। उप-विभाजन का आधार उन्होंने 'रीति' को माना और इस काल की प्रतिनिधि रचनाओं को रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त इन दो वर्गों में बाँट कर उन्हें पुनः क्रमशः लक्षणबद्ध काव्य, लक्ष्यमात्र काव्य (रीति सिद्ध काव्य) तथा रहस्योन्मुख काव्य, शुद्ध प्रेमकाव्य के उपवर्गों में विभक्त किया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि शृंगार का केवल रसपरक अर्थ न ग्रहण कर साजसज्जा या अलंकरणपरक अर्थ भी लेना चाहिए। इस व्यापक अर्थ में शृंगारकाल नाम इस काल के लिए मिश्र बन्धुओं के दिए हुए नाम 'अलंकृत काल' या 'अलंकार काल' को और डॉ० रामशंकर शुक्ल रसाल द्वारा प्रस्तावित नाम 'कलाकाल' को भी अपने में समेट लेगा।[30]

मिश्रजी की इन स्थापनाओं की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। कुछ प्रतिष्ठित आलोचकों ने पहले उपेक्षा के द्वारा फिर विरोध के द्वारा इनको नकारने की चेष्टा की किन्तु उनकी अपनी कृतियों में भी रीतिकाल नाम का आग्रह रहते हुए भी रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त जैसी शब्दावली और उनके सम्बन्ध में मिश्रजी के निष्कर्ष (कुछ बदली हुई भाषा में सही!) स्थान पाने लगे। अन्य क्षेत्रों में आ० शुक्ल का विरोध करने वाले भी जब इस क्षेत्र में आ० शुक्ल के दिये नाम की दुहाई दें तो समझना चाहिए कि उनके पास तर्कों की कमी पड़ रही है। जो हो, शृंगार काल नाम का विरोध करने वालों की युक्तियों पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने जब सत्रह भागों में 'हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास' प्रकाशित करने की योजना बनायी तब उसके मूल आयोजकों ने रीति काल के स्थान पर 'शृंगार काल' अभिधा ही स्वीकृत की थी। उसके षष्ठ भाग का विवेच्य विषय था "शृंगार काल (रीतिबद्ध)" एवं सप्तम भाग का "शृंगार काल (रीति-मुक्त)।" षष्ठ भाग के सम्पादक डॉ० नगेन्द्र ने 'रीतिकाल' नाम ही उचित समझा और सम्पादकीय वक्तव्य में लिखा, 'अनेक कारणों से हमने परंपरा सिद्ध 'रीतिकाल' नाम ही ग्रहण किया है, शृंगार काल (रीतिबद्ध) नहीं। यों तो दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है, फिर भी 'शृंगार' की अपेक्षा 'रीति' शब्द ही हमारे दृष्टिकोण के अधिक निकट है। इस साधारण से परिवर्तन के लिए हम इतिहास के मूल आयोजकों से क्षमायाचना करते हैं।"[31] पहली बात तो यह कि नाम बदल देना साधारण परिवर्तन नहीं है। यदि 'दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है' जैसा कि डॉ० नगेन्द्र कहते हैं तो शृंगार काल नाम रहने देने में क्या हर्ज था? दूसरी बात यह कि इस परिवर्तन के लिए जिम्मेदार 'अनेक कारणों' में से कम से कम कुछ कारणों का निर्देश करना उनका सारस्वत कर्तव्य था किन्तु उन्होंने रीति शब्द के अपने दृष्टिकोण के अधिक निकट होने जैसा व्यक्तिनिष्ठ कारण बताना ही यथेष्ट समझा। अब इस पर तो कोई बहस हो नहीं सकती।

डॉ० नगेन्द्र ने न सही इसी इतिहास के उनके सह-योगी लेखक डॉ० अंबाप्रसाद सुमन ने शृंगार काल नाम को अस्वीकृत करते हुए कई तर्क दिये हैं, जरा उन्हीं पर विचार कर लिया जाये। डॉ० सुमन ने लिखा है, "कुछ वर्तमान आलोचक रीतिकाल को 'शृंगार काल' भी लिखने लगे हैं। यह कहां तक समीचीन है? प्रश्न यह है कि क्या रीतिकाल के कवियों ने शृंगार रस के अंगों का ही विशद विवेचन किया है? क्या रति नामक स्थायी भाव को आधार मान कर उसके आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारियों के वर्णन और विवेचन में ही कवियों ने कविताएं लिखी हैं? सम्पूर्ण काल पर एक विहंगम दृष्टि डालने से पता लगता है कि उन कवियों की ऐसी परिपाटी नहीं रही। फिर शृंगार काल नाम देने का प्रश्न ही नहीं उठता। शृंगार की प्रमुखता असंदिग्ध है एवं वह स्वतन्त्र नहीं है, सर्वत्र रीतिबद्ध ही है। इस काल के समस्त कवियों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) रीति ग्रन्थकार कवि (२) रीतिबद्ध कवि (३) रीतिमुक्त कवि। हम देखते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीति का प्रभाव प्रत्येक वर्ग के कवियों पर है। रीति शब्द के दो ही अर्थ हैं। एक विशिष्ट पदरचना और दूसरा लक्षणग्रन्थ। रीति ग्रन्थकार कवियों और रीतिबद्ध कवियों की कविताएं तो किसी न किसी प्रकार लक्षणबद्ध थीं ही। रही रीतिमुक्त कवियों की बात, उनमें भी एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पदरचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है। अतः हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल नाम से अभिहित करना ही अधिक उपयुक्त है, अलंकृत काल और श्रृंगार काल नाम उसकी प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते।"[33]

इतना लम्बा उद्धरण देने के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ किन्तु जिन विलक्षण युक्तियों के सहारे 'श्रृंगार काल' नाम का प्रत्याख्यान किया गया है, उनको समग्र रूप में ही उपस्थित कर देना मैंने उचित समझा। मुझे सचमुच आश्चर्य है कि ऐसी लचर और परस्पर विरोधी दलीलों को डॉ० नगेन्द्र के सम्पादन में निकलने वाले अत्यंत प्रामाणिक माने जाने वाले इतिहास ग्रन्थ में स्थान कैसे मिल गया? सम्पूर्ण रीतिकाल पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ही डॉ० सुमन को पता लग जाता है कि रीतिकाल के कवियों ने श्रृंगार रस के अंगों का ही विशद विवेचन नहीं किया है, रति नामक स्थायी भाव को आधार मानकर उसके आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारियों के वर्णन और विवेचन की ही उनकी परिपाटी नहीं रही है। किन्तु उसके बाद ही वे लिखते हैं, 'श्रृंगार की प्रमुखता असंदिग्ध है एवं वह स्वतंत्र नहीं है, सर्वत्र रीतिबद्ध ही है।' क्या मैं पूछ सकता हूँ कि यह रीतिबद्ध श्रृंगार क्या बला है? क्या रीतिबद्ध श्रृंगार में लक्षण देकर या बिहारी आदि रीति सिद्ध कवियों द्वारा बिना लक्षण दिये 'रति नामक स्थायी भाव को आधार मान कर उसके आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारियों का ही विवेचन या वर्णन नहीं किया गया है? और फिर 'श्रृंगार काल' से यह ध्वनि कहाँ निकलती है कि उसके प्रत्येक कवि को रति भाव को आधार मान कर उसके अंगोपांगों पर कविता लिखनी ही होगी? क्या भक्तिकाल के प्रत्येक कवि ने भक्ति रसपूरित कविताएं लिखी थीं?

'रीतिकाल' नाम के समर्थन में दी गयी उनकी युक्ति तो और भी अद्भुत है। रीति ग्रंथकार कवि, रीतिबद्ध कवि, रीतिमुक्त कवि प्रत्येक पर वे रीति का प्रभाव देखते हैं क्योंकि उनके लिए रीति शब्द के दो ही अर्थ हैं, एक विशिष्ट पदरचना और दूसरा लक्षणग्रंथ। (रीति का ही अर्थ यदि लक्षणग्रंथ होता है तो मालूम नहीं क्यों लोग रीतिग्रंथ लिखते रहे हैं।) डॉ० सुमन की राय में रीतिग्रंथकार कवियों और रीतिबद्ध कवियों की कविताएँ तो किसी न किसी प्रकार लक्षणबद्ध (?) थीं ही (यह स्पष्ट नहीं हुआ कि रीतिग्रंथकार कवि रीतिबद्ध थे या नहीं, क्योंकि इतिहास का यह पूरा भाग श्रृंगार काल नहीं रीतिकाल—रीतिबद्ध—कहा गया है) रही रीतिमुक्त कवियों की बात, ता उनमें भी एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पद रचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है अतः रीतिकाल नाम की उपयुक्तता सर्वथा सिद्ध है।

इसी को कहते हैं दूर की कौड़ी लाना। इस तर्क के आगे मैं सर्वथा नतमस्तक हूँ, सिर्फ यही सोच रहा हूँ कि अन्य कालों के कवियों ने क्या अपराध किया है, उनमें भी तो एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पदरचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है, फिर उन्हें लोग रीतिकवि क्यों नहीं कहते। साहित्य शास्त्र का ऐसा दुरुपयोग इतने महत्वपूर्ण ग्रंथ में होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। रीति शब्द का संस्कृत काव्यशास्त्रगत अर्थ लेकर कोई विद्वान् 'रीतिकाल' नाम का समर्थन डॉ० नगेन्द्र के सम्पादन में करे इससे बढ़कर खेद की बात क्या हो सकती है! यह सर्ववादिसम्मत है कि 'रीतिकाल' में रीति शब्द का प्रयोग 'काव्य रीति' या 'कवित्त रीति' के संक्षिप्त रूप की तरह किया गया है, वामन की परिभाषा के अर्थ में नहीं। यदि कोई विद्वान् उस पारिभाषिक अर्थ का उपयोग करना चाहे, तो अवश्य कर सकता है, किन्तु तब उसे प्रमाणित करना होगा कि रीतिकालीन काव्य संस्कृत शास्त्र के रीति सम्प्रदाय से प्रभावित था। क्या डॉ० सुमन ऐसा कर सकते हैं? मैं तो डॉ० नगेन्द्र के इस मत से पूर्णतः सहमत हूँ कि, "इस प्रकार रीति-युग में ध्वनि, रस और अलंकार इन तीन ही वादों का अनुसरण हुआ। रीति और वक्रोक्ति का तो किसी ने नाम ही नहीं लिया क्योंकि वैसे भी वे उस समय तक काव्य शास्त्र से बहिष्कृत हो चुके थे। उपर्युक्त तीनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादों में भी प्रधानता रही रस-सम्प्रदाय की और रस में भी श्रृंगार रस की। वास्तव में हिन्दी में रुद्रभट्ट और भोज के अनुकरण पर 'श्रृंगारवाद' की स्वतंत्र रूप में ही प्रतिष्ठा हो गई थी।"[33] क्या यही तथ्य इस काल का नाम 'श्रृंगार काल' घोषित कर देने के लिए पर्याप्त नहीं है? मिश्रजी ने तो और भी बहुत से तर्क दिये हैं, और भी बहुत सी संगतियों का सौकर्य प्रमाणित किया है।

इस इतिहास के प्रति मेरा अभियोग यह भी है कि इसमें जानबूझ कर योजनाबद्ध रूप से मिश्रजी का नाम न आने देने की चेष्टा की गयी है। उनके मत का खंडन करते समय उनका उल्लेख नहीं किया गया, यही अनुचित है, किन्तु दसियों स्थानों पर उनके निष्कर्षों और कार्यों का उपयोग करते हुए भी उनका ऋण न स्वीकार करना तो साहित्यिक अनैतिकता है। विस्तारभय से मैं केवल दो उदाहरण दे रहा हूँ। स्वयं डॉ० अंबाप्रसाद सुमन ने साहित्येतिहास के काल विभाजन एवं नामकरण के आधारों के रूप में 'कृति, कर्ता, विषय और पद्धति' की जो चर्चा की है, वह मिश्रजी की स्थापनाओं का संक्षिप्त और कहीं-कहीं किंचित् परिवर्तित रूप है। न विश्वास हो तो उसे मिश्रजी की पुस्तक 'बिहारी' में प्रकाशित श्रृंगार काल के नामकरण प्रकरण से मिला कर देख लीजिए। इसी तरह इतिहास के पृ० १६७-६८ पर विक्रम की सत्रहवीं शती में होने वाले रीति कवियों एवं रचनाकाल सहित उनके ग्रंथों की जो तालिका दी गयी है, वह मिश्रजी के 'बिहारी' नामक ग्रन्थ में पृ० २२-२३ पर दी हुई तालिका का ही किंचित् परिवर्तित रूप है। इसका अखंडनीय प्रमाण क्रम आदि के अतिरिक्त यह तथ्य भी है कि मिश्रजी ने (संभवतः असावधानी के कारण या कविता काल के सामान्य निर्देशन की दृष्टि से) सं० १६५० के सामने केशवदास एवं रसिकप्रिया, कविप्रिया का उल्लेख किया है जबकि रसिकप्रिया का वास्तविक रचनाकाल १६४८ तथा कविप्रिया का १६५८ है। इस वृहत् इतिहास की तालिका में भी १६५० के सम्मुख ही केशवदास विराजमान हैं, हाँ कविप्रिया, रसिकप्रिया के आगे आ गयी है। स्मरण रहे कि मिश्रजी के 'बिहारी' नामक ग्रंथ का प्रकाशन काल सं० २००७ है जबकि वृहत् इतिहास का यह भाग सं० २०१५ में प्रकाशित हुआ था। मिश्रजी का नाम इस इतिहास में न आ जाये, इसका इतना ध्यान रखा गया है कि अध्ययन की आधारभूत सामग्री का उल्लेख करते समय मिश्रजी द्वारा सम्पादित केशव ग्रंथावली, भिखारीदास ग्रंथावली, पद्माकर पंचामृत आदि के सामने उनके प्रकाशकों के नाम दिये गये हैं जबकि उसी तालिका में बहुतेरी पुस्तकों के सामने उनके सम्पादकों के नाम दिये गये हैं। शायद इसका भी कोई व्यक्तिनिष्ठ कारण हो।

श्रृंगार काल नाम का विरोध करने वाले एक और विद्वान् डॉ० बच्चन सिंह के तर्कों की भी परीक्षा कर ली जाये। पहली चोट तो उनकी यह है कि 'श्रृंगार काल' नाम नई उद्भावना नहीं आ० शुक्ल की उक्ति का ही भाष्य है जो 'सामान्यतः मान्य नहीं हुआ।'[34] इससे यह ध्वनि निकलती है कि 'श्रृंगार काल' नाम के समर्थक ने इसे 'नई उद्भावना' के रूप में पेश किया था जबकि सच्चाई यह है कि मिश्रजी ने पहले ही आ० शुक्ल की उस उक्ति को उद्धृत करते हुए लिखा था, "इसी से इसे रीतिकाल मानने वाले विद्वान् भी रसदृष्टि से 'श्रृंगार काल' कहना उचित समझते हैं।"[35]

उनकी दूसरी युक्ति है, "यदि श्रृंगार काल' नाम स्वीकृत कर लिया जाये तो भी फुटकल खाता बंद नहीं होता, कम से कम भूषण तथा अनेक नीति और उपदेश-परक काव्य लिखने वालों के लिए इसे खोलना ही पड़ेगा।"[36] इस कथन से साहित्यिक काल विभाजन सम्बन्धी आधारभूत धारणा से अपरिचय अधिक झलकता है 'श्रृंगार काल' नाम पर चोट कम पहुँचती है। नामकरण युग की उस व्यापकतम प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है जो उसके प्रमुख कवियों में प्रतिफलित होती है। किसी भी काल का कोई भी नाम ऐसा नहीं होता, जिसमें फुटकल खाता न हो। क्या सर्वजन स्वीकृत भक्तिकाल में फुटकल खाता नहीं है? श्रृंगार काल नाम देने से फुटकल खाता बन्द तो नहीं होता किन्तु आलम, घनानंद, बोधा, ठाकुर, द्विजदेव जैसे कवियों के असल खाते में चले आने पर छोटा जरूर हो जाता है और 'रीतिबद्ध' उपवर्ग रहते भूषण को फुटकल खाते में ठेलने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

घनानंद आदि कवियों को स्वच्छंदतावादी (या विशुद्ध स्वच्छंदतावादी!) मानने में भी डॉ० बच्चन सिंह को आपत्ति है। उन्हीं के शब्दों में, "लेकिन कठिनाई केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि घनानंद और प्रवृत्ति की दृष्टि से उनसे मिलते जुलते कवि स्वच्छंदता दिखाने पर भी रीतिकाल के प्रभाव से बच नहीं सके हैं। उन पर स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में रीतिकालीन रूढ़ियों का निश्चित प्रभाव लक्षित होता है। अतः घनानंद का अवलंब लेकर भी 'रीतिकाल' के समक्ष 'शृंगार काल' नाम का औचित्य नहीं सिद्ध होता।"[37]

किन्तु कठिनाई यह भी है कि भले डॉ॰ बच्चन सिंह को घनानंद आदि में स्वच्छंदता कम और रीतिकालीन रूढ़ियों का प्रभाव अधिक दिखता हो, आ॰ शुक्ल को उनमें स्वच्छंदता अधिक दिखती थी। इसीलिए उन्होंने बिहारी को रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में स्थान देने के बावजूद घनानंद आदि को अलग ही रखा और यह स्पष्टतः लिख भी दिया कि "उक्ति का अर्थ-गर्भत्व भी घनानंद का स्वतंत्र और स्वावलंबी होता है, बिहारी के दोहों के समान साहित्य की रूढ़ियों (जैसे नायिका भेद) पर आश्रित नहीं रहता। उक्तियों की सांगोपांग योजना या अन्विति इनकी निराली होती है।"[38] अब पाठक ही निर्णय करें कि घनानंद आदि कवियों का रीतिबद्ध कवियों से भिन्न स्वतंत्र उपवर्ग बनाना विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों के सम्यक् अनुशीलन में सहायक है या नहीं और 'शृंगार काल' नाम में उनके लिए सौकर्य है या नहीं ?

प्रसंगवश यह भी सूचित कर दूँ कि रीतिकालीन प्रेम व्यंजना पर लिखित डॉ॰ बच्चन सिंह के इस शोधग्रंथ में डॉ॰ नगेन्द्र का आठ बार एवं आ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी का पाँच बार उल्लेख हुआ है जबकि आ॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का नाम एक बार भी नहीं आया है, उनके मत का खण्डन करते समय भी नहीं। शोधग्रंथ में 'कुछ लोग' जैसे अनिश्चयवाचक सर्वनामों का प्रयोग दोष माना जाता है। उसकी वस्तुनिष्ठ शैली की माँग है कि किसी के मत का खंडन-मंडन करते समय न केवल उसका नाम बल्कि उसके ग्रंथ का निश्चित हवाला दिया जाय। डॉ॰ बच्चन सिंह ने भी अन्यत्र इस नियम का पालन किया है। अतः हो सकता है कि मिश्रजी एवं उनके ग्रंथों का नाम, पता न देने का कोई 'व्यक्तिनिष्ठ' कारण हो।

इन विरोधों की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि ये निषेधक दृष्टि से किये गये हैं। शृंगार काल नाम की सीमाएं प्रकट करने में जमीन आसमान के कुलाबे मिलाये गये हैं किन्तु 'रीतिकाल' नाम की जिन आधारभूत त्रुटियों के कारण इस नाम की आवश्यकता पड़ी उनकी मीमांसा नहीं की गयी है। फलतः शृंगार काल नाम का विरोध करते हुए भी उसकी उपलब्धियों का जाने अनजाने प्रयोग करने के लिए विरोधी भी विवश है।

मैं यह नहीं कहता कि शृंगार काल नाम पूर्णतः निर्दोष एवं अन्तिम है किन्तु यह अवश्य मानता हूँ कि शुक्लजी के इतिहास के ढाँचे को स्वीकार करने पर रीतिकाल के स्थान पर शृंगार काल नाम अधिक प्रशस्त और सुविधाजनक है। जब तक उससे अधिक व्यापक नाम नहीं सुझाया जाता या शुक्लजी के बनाये इतिहास के ढाँचे को ही नहीं बदल दिया जाता (जो असंभव नहीं है) तब तक रीतिकाल के स्थान पर शृंगार काल का प्रयोग सर्वथा वांछनीय है।

शृंगार काल के नामकरण, उपविभाजन आदि की व्यवस्था के साथ ही साथ इस काल की आधारभूत सामग्री से घनिष्ठ परिचय के कारण इस काल की तथ्यपरक जानकारी में भी अपने अनुसन्धानों द्वारा बहुत काफी संशोधन संवर्धन मिश्रजी ने किया है। उदाहरणार्थ एक ओर जहाँ उन्होंने एक के स्थान पर दो भूषण, दो मतिराम, दो बोधा की संभावना स्वीकृत की है वहाँ दूसरी ओर न केवल शेख और आलम की एकता प्रतिपादित की बल्कि दो आलमों के स्थान पर एक आलम को ही स्वीकारा, शिवा बावनी, छत्रसाल दशक के स्वतंत्र ग्रंथ होने की धारणा का खंडन किया तो भूषण के शृंगार रस के छन्दों को भी खोज निकाला। कई कवियों के जीवनवृत्त एवं रचनाकाल आदि के सम्बन्ध में उन्होंने नई सामग्री के आधार पर परिष्कार किया। और इस तरह शुद्धतर इतिहास लेखन की संभावना को प्रशस्त किया।

मैं यह भी मानता हूँ कि प्रचुर साहित्यिक-पांडित्यमूलक कार्य करने के कारण साहित्य समीक्षा के लिए उन्हें पर्याप्त अवकाश नहीं मिला। घनानंद की कृतियों का सम्पादन पूर्ण करने के अनन्तर मिश्रजी ने लिखा था, "अब रह गई उनके सौंदर्य-विधान और भावना-भेद की सरणियों का परिचय कराने वाली समीक्षा जिसके लिए मैं प्रतिश्रुत हूँ।"[39] सं॰ २००६ में दी गयी यह प्रतिश्रुति सत्रह वर्षों से अधिक समय बीत जाने पर भी अपूर्ण है। दूसरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात यह कि पांडित्य प्रदीप से आलोकित उनकी मर्मग्राहिणी समीक्षाएं अवान्तरार्थ विच्छेदक अन्तर्भाष्य पर अधिक बल देती हैं, 'मूल्यांकन पर कम। यह भी स्मरणीय हैं कि समीक्षा के लिए वे सहृदयता को अत्यावश्यक मानते हैं। सहृदयता की व्याख्या भानुजी दीक्षित के अनुसार 'प्रशस्त हृदय परत्व' न कर वे 'समान हृदयत्व' करते हैं। अपने मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "सहृदय वही न होगा जो कवि के हृदय से अपना हृदय मिला ले। जो आश्रय के हृदय से अपना हृदय मिला सके, जो अपने हृदय को दूसरे के हृदय से मिला सके उसके हृदय की समानुभूति कर सके। समानुभूति के बिना सहृदयता किस काम की।"[10] इसी सूत्र के आधार पर मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी वस्तुतः महत्वपूर्ण समीक्षाएं उन्हीं कवियों पर हैं (आ० शुक्ल की ही तरह मिश्रजी भी मुख्यतः काव्य समीक्षक ही हैं) जिनसे उनका मन मिला है, शेष या तो प्राध्यापकीय उत्तरदायित्व का निर्वाह भर है या मूलतः प्रतिवाद मात्र।

समीक्षक मिश्रजी के कृतित्व पर समग्र दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि उनके पूज्य कवि हैं तुलसीदास, श्रद्धेय कवि हैं केशव (और अंशतः भूषण भी) तथा प्रिय कवि हैं बिहारी, पद्माकर, घनानंद (अंशतः रत्नाकर और मैथिलीशरण गुप्त भी)। अतः समीक्षक के रूप में उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन करने के लिए उनकी लिखी इन्हीं की समीक्षाओं पर ध्यान केन्द्रित करना लाभदायक होगा।

मिश्रजी के समीक्षा सम्बन्धी प्रतिमानों में सांस्कृतिक-साहित्यिक पक्षों पर ही जोर दिया गया है। प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने अपने देश की परम्परा, मर्यादा की रक्षा तथा भौतिक, आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल तत्वों का समर्थन तथा प्रतिकूल तत्वों का विरोध किया है, द्वितीय के अन्तर्गत रचना के सहज सौन्दर्य, आहार्य सौन्दर्य तथा अन्तः सौन्दर्य की परीक्षा की है।

मिश्रजी के अनुसार साहित्य के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक संघटन करने में बहुत दूर तक समर्थ होने के कारण ही तुलसी महान् हैं। उनके साहित्य की महत्ता का रहस्य उनकी सर्वजनहिताय 'अलौकिक लोकदृष्टि' थी। मध्यकालीन कवियों में समाज पर उनकी सर्वाधिक दृष्टि थी अतः उन्होंने समाज को सर्वाधिक प्रभावित भी किया किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मानस या तुलसी की अन्य कृतियों में साहित्यिक प्रतिमानों की ओर दुर्लक्ष्य किया गया है। मिश्रजी ने मानस को पुराण काव्य प्रतिपादित करने के डॉ० श्रीकृष्णलाल, आ० ललिताप्रसाद सुकुल आदि के प्रयासों का खंडन करते हुए उसे महाकाव्य ही माना है। "मानस काव्यग्रंथ पहले है और भक्तिग्रंथ बाद में।"[11] उनकी यह स्थापना तो बहुत कम विद्वानों को स्वीकार हो सकेगी किन्तु तुलसीदास के साहित्यिक मानदंड के सम्बन्ध में उनकी यह पकड़ ठीक है, "वस्तु, नेता और रस में तुलसीदास वस्तु और नेता पर अधिक जोर देने वाले थे। रस को इन्हीं का अनुगामी मानते थे। रस के लिए नेता और वस्तु की योजना इन्हें मान्य नहीं थी। भाषा की सजावट भी फालतू ही थी..."[12] यह भी मिश्रजी की शास्त्रीयता का ही प्रमाण है कि सामान्यतः साहित्य शास्त्र के अनुसार दोष समझी जाने वाली स्थितियों की संरक्षा भी वे शास्त्रीय शब्दावली द्वारा कर सकते हैं।

फिर भी मुझे लगता है कि आ० शुक्ल की तरह मुख्यतः उपयोगितावादी दृष्टि से तुलसी की समीक्षा करना उनकी सच्ची और पूरी समीक्षा नहीं है। तुलसी के भावविभोर आत्मसमर्पण के स्वारस्य का सम्यक् प्रतिपादन अब भी बाकी है। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि मिश्रजी की समीक्षा द्वारा तुलसी के व्यापक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ है और मानस-बिन्दु-विवेचन द्वारा बहुत-सी गुत्थियां सुलझी हैं।

वस्तुतः 'समान हृदयत्व' की दृष्टि से मिश्रजी जितने समरस शृंगारकालीन कवियों के साथ हो सके हैं, उतने अन्यों के साथ नहीं। आरम्भ में नैतिकतावादी आतंक के कारण 'भद्दी शृंगार प्रवृत्ति के लिए'[13] केशव बिहारी को उन्होंने उत्तरदायी ठहराया था, इस बात पर खेद प्रकट किया था कि, "पद्माकर अपनी परिस्थिति को दबा कर ऊपर उठ जाने वाले व्यक्तियों में से नहीं थे। ये समाज के प्रवाह के साथ ही बहते रहे,"[14] जिसमें "कवियों की कविता महाराज के दिलबहलाव की चीज बनी, उन्हें कर्तव्यपथ पर लाने वाली नहीं[15] किन्तु बाद में उन्होंने इस आतंक को काट कर यह घोषित किया कि "एक ही युग में एक-से-एक उत्तम कर्ता संख्या में सब से अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी उत्तर मध्यकाल या शृंगार काल या रीतिकाल में हुए। हिन्दी का सच्चा साहित्ययुग यदि कोई था तो वस्तुतः यही था।"[46] भक्तिकाल और आधुनिक काल दोनों से बढ़कर शृंगार काल को महत्त्व देना समीक्षा के प्रतिमानों के सांस्कृतिक पक्ष के ऊपर परम्परागत साहित्यिक पक्ष की विजय है।

समीक्षा का एक सामाजिक कार्य समीक्ष्य साहित्य की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि भी है। शुक्लजी ने मध्यकालीन साहित्य चेतना को नकारते समय उसके पुरोधा केशवदास की महिमा-मंडित प्रतिमा को खंड-खंड कर दिया था, मिश्रजी ने यथासाध्य केशवदास को पुनःप्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उन्हें ही हिन्दी के रीतिकाव्य का वास्तविक पुरस्कर्ता घोषित किया, उनके पांडित्य, बहुश्रुतत्व की सप्रमाण विवेचना की; उन पर लगे हृदयहीनता के आरोप को अतिरंजित सिद्ध करने की चेष्टा की, और अपना निर्णय दिया कि "महाकवि केशव का प्रयास हिन्दी के मध्यकाल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक प्रयास है।"[47] मिश्रजी सीधे शुक्लजी पर तो अपना क्षोभ निकाल नहीं सकते थे अतः वह जायसी पर निकला। मिश्रजी के मतानुसार "केशव को अपदस्थ करने में मलिक मुहम्मद जायसी हेतु हुए।"[48] उनके अतिरिक्त सूर, तुलसी, छायावाद तथा नवीन आलोचना पद्धति के कारण भी केशव को अपना वास्तविक प्राप्य नहीं मिला, ऐसा वे मानते हैं। मुश्किल यह है कि मिश्रजी यह भूल जाते हैं कि तेजी से बदलते हुए जनयुग में दरबारी और रीतिबद्ध शास्त्रीय काव्य की मर्यादा पूर्ववत नहीं रह सकती। यह ठीक है कि रूप विधान पर जोर देने वाले गैर-रोमांटिक कवि अज्ञेय और उनके अनुयायी केशवदास की आंशिक सराहना करने लगे हैं किन्तु फिर भी केशव को पुनः जीवन्त काव्यादर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकेगा यह सन्दिग्ध है।

रीतिकाव्य के नायक के रूप में केशव की संरक्षा करने के बावजूद मिश्रजी के वस्तुतः प्रिय कवि बिहारी, पद्माकर और घनानंद हैं। अल्पतम शब्दों में अधिकतम अर्थ परम्परा को कसने में दक्ष बिहारी की वक्रोक्तिपूर्ण ध्वनिवादिता की, चित्रतत्व एवं नादतत्व में अप्रतिद्वन्द्वी पद्माकर की स्वच्छ तथा ग्राहक निरीक्षण शक्ति की, विशिष्टता की, तथा गंभीर प्रेम की पीर की अभिव्यंजना में कुशल घनानंद की लाक्षणिक विरोधवृत्ति युक्त स्वच्छन्दता की प्रशंसा करते वे अघाते नहीं। इन तीनों कवियों के जिस समान गुण की बार-बार सराहना उन्होंने की है वह है भाषा के सधे रूप पर उनका सहज अधिकार। इसका अर्थ यह है कि काव्य की उत्कृष्टता की परख की उनकी कसौटी इन्हीं तत्त्वों से निर्मित है। लोकमंगल और नैतिकता (औचित्य) पर जो बल उन्होंने सिद्धान्ततः दिया है, वह बुद्धि से गृहीत है और उनके साहित्यिक मानदंड उपरली सतह पर ही स्थित हैं अन्यथा इन दोनों तत्त्वों से अप्रभावित कवि उन्हें इतने प्रिय न होते। इन तीनों कवियों के मर्म को छू पाने एवं सौन्दर्य को देख और दिखा पाने में मिश्रजी को इतनी सफलता 'समान हृदयता' के कारण ही मिल पायी है।

समसामयिक राष्ट्रीयता की भावना तथा स्वच्छन्दतावादी चेतना ने क्रमशः भूषण और घनानंद के काव्य के मूल्यांकन के नये आयाम उद्घाटित किये। केवल 'रीति' के पैमाने से तो ये कवि बहुत साधारण साबित होते। मिश्रजी के ही शब्दों में, "भूषण में आलंकारिक विशेषताएँ ढूँढ़ना और अलंकार शास्त्र की सूक्ष्म दृष्टि देखना व्यर्थ है।"[49] इसी तरह शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने में भी भूषण लापरवाह रहे हैं। मिश्रजी को स्वीकारना पड़ा है, "भूषण ने सामान्य काव्य भाषा का जो रूप लिया वह बहुत परिष्कृत नहीं है।[50] फिर भी भूषण उनके श्रद्धेय कवि हैं क्योंकि उन्होंने प्रवाह के विरुद्ध जाकर लोकरक्षक शिवाजी को आलम्बन बनाकर हिन्दी में वीर रस की सर्वश्रेष्ठ कविताएँ लिखीं। भूषण पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाने का विरोध करते हुए मिश्रजी ने उन्हें देशोत्थानकारी राष्ट्रीय कवि प्रमाणित किया। आधुनिक काल के राष्ट्रीय कवियों के लिए भी भूषण को अनुकरणीय सिद्ध कर पाने में उन्हें परम संतोष का अनुभव हुआ होगा।

इसी तरह छायावादी स्वच्छन्दता एवं लाक्षणिकता के मुकाबले वे घनानंद को सामने लाये। यह मुकाबले वाली बात मेरी नहीं है, मिश्रजी ने ही बार-बार इस भाव को उभारा है। एक प्रमाण लीजिये, "...लक्षणा के जैसे चमत्कार इन्होंने दिखलाए हैं हिन्दी साहित्य के प्राचीन काल के किसी कवि में उतने लाक्षणिक वैलक्षण्य तो हैं ही नहीं, आधुनिक काल के जिन छायावादी कवियों में इस विलक्षणता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दर्शन प्रभूत परिमाण में होते हैं, उनमें भी वह विशेषता नहीं है जो घनानंद के प्रयोगों में मिलती है।"[51] छायावादी लाक्षणिकता के खिलाफ मिश्रजी की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह अंग्रेजी पद्धति की होती है। भारतीय काव्य परम्परा में 'लक्षणा व्यंजनामूला रहती है' अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग की व्यंजना नियत रहती है। अंगरेजी की लाक्षणिकता का वैलक्षण्य इससे उलटा होता है। वहाँ परमार्थतः लक्षणा मूला व्यंजना रहती है"[52] बात सिर्फ यहीं नहीं रुकती। "अंग्रेजी पद्धति में लाक्षणिक प्रयोग नए-नए गढ़े जाते हैं। फल यह होता है कि भाषा किसी विशेष साँचे के भीतर से अनुभूतियों की सचाई नापने के लिए नहीं बढ़ती!"[53] यहाँ मेरी समझ में मिश्र जी घनानंद के प्रति पक्षपात कर रहे हैं। यदि छायावादियों ने अंग्रेजी प्रभाव आत्मसात् किया तो घनानंद ने फारसी प्रभाव ग्रहण किया था। घनानंद को ब्रजभाषा की पुष्ट काव्य परम्परा तथा कृष्णभक्ति शाखा का अवलम्ब प्राप्त था अतः उन्होंने उस प्रभाव को उनकी लपेट में इस प्रकार उपस्थित किया कि वह स्वकीय सा ही ज्ञात होने लगा। इन दो सवा दो सौ वर्षों में उसका विदेशीपन और भी छिप सा गया है किन्तु अपने समय में 'हुरकिनी, तुरकिनी सुजान के सेवक' एवं विदेशी भावापन्न होने के कारण घनानंद की भी निन्दा हुई थी। छायावादियों को परम्परा में खड़ी बोली की कविता की इतिवृत्तात्मक अभिधाप्रधान शैली तथा पश्चिमी ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, संस्कृति की दीप्ति से चकाचौंध भारतीय समाज में व्याप्त आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति मिली थी। स्वाभाविक था कि उनके चिन्तन, भावोच्छ्वास एवं भाषा में यूरोपीय विशेषतः अंग्रेजी प्रभाव झलकता। फिर भी उन्होंने खड़ी बोली को काव्यानुकूल ढालने में तथा पश्चिमी भावों को भारतीय परिवेश में समाविष्ट करने में कैसी आश्चर्यजनक सफलता पायी, यह कम से कम आज तो स्पष्ट हो ही गया है।

छायावादी काव्य की तो मिश्रजी ने बाद में फिर भी कुछ सराहना की किन्तु प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि को वे स्वीकार नहीं कर सके। शास्त्रीय विचारकों की एक सीमा यह है कि वे समसामयिक काव्य को उसका वास्तविक प्राप्य नहीं दे पाते। सच कहा जाय तो आधुनिक काल में रत्नाकर और मैथिलीशरण गुप्त ही उन्हें प्रिय लगे। रत्नाकर तो खैर रीतिसिद्ध कवि थे ही, गुप्तजी को भी मिश्रजी केशवदास की श्रेणी का कवि मानते हैं क्योंकि उनमें केशवदास के गुण 'पांडित्य, बहुश्रुतत्व और विभिन्न शैलियों पर अधिकार' भरपूर मात्रा में हैं। तंतुवाय, नारद, रुदंती जैसे कुछ थोड़े से शब्दों के श्लिष्ट प्रयोगों के आधार पर की गयी यह स्थापना मिश्रजी की दृष्टि और रुचि को जितना झलकाती है संभवतः सत्य को उतना नहीं। कहाँ हिन्दी में रीति परम्परा के संस्थापक, शास्त्रसर्वस्व, कठिन काव्य के रचयिता दरबारी कवि केशवदास और कहाँ लोकजीवन से सम्पृक्त, परम्परा में नवीनता का समाकलन करने वाले सरलता की प्रतिमूर्ति, जनकवि मैथिलीशरण गुप्त। दोनों में जितनी समता है, उससे कहीं अधिक भिन्नता है किन्तु जिनकी आँखों में केशवदास समाये हों उन्हें समता ही अधिक दिखेगी, यह स्वाभाविक ही है। छायावाद और उसके बाद के हिन्दी काव्य पर मिश्रजी के विचार इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि उनसे इसका बोध होता है कि परम्परावादी शास्त्रीय दृष्टि को उन पर कहाँ और क्यों आपत्ति है।

समीक्षक के रूप में मिश्रजी की सीमाएँ बहुत कुछ शास्त्रीय समीक्षा पद्धति की सीमाएं हैं। समान्यतः आज का कृती साहित्यकार साहित्य शास्त्र को 'हितशासक' मानने के लिए तैयार नहीं है। वह उसका अनुगमन करने के स्थान पर उल्लंघन करने में ही अपना गौरव समझता है। यह भी अतिवादी दृष्टि है। किन्तु साहित्यकार शास्त्रानुगामी हो ही, यह भी अतिवादी दृष्टि है। एक सीमान्त पर खड़े शास्त्रीय समीक्षक और दूसरे सीमान्त पर अवस्थित आज के साहित्य में इतना अलगाव है कि उनमें सार्थक संवाद की स्थिति नहीं रह गयी है। साहित्य के आधारभूत सिद्धान्त भले ही हर युग में न बदलते हों किन्तु उनके विभिन्न तत्वों पर दिया जाने वाला बल (एम्फैसिस) बदलता रहता है। फिर यह भी है कि ये सिद्धान्त वास्तव में उपयोगी परिकल्पना (हाइपोथीसिस) मात्र है, अपरिवर्तनीय नियम नहीं। जिस काल के साहित्यकारों ने उनका अनुगमन या अनुशीलन कर साहित्य सर्जना की है उस काल के साहित्य की समीक्षा उनके आधार पर करना तो लाभप्रद है किन्तु उन्हें स्थिर मान कर दूसरे काल के साहित्य की विवेचना उन्हीं के आधार पर करना हितकर सिद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होता।

इसी सन्दर्भ में 'सहृदयता' की व्याख्या 'समान हृदयता' करने के परिणाम पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। भावक किसी विशिष्ट युग या विशिष्ट धारा के कवियों का 'समान हृदय' तो हो सकता है किन्तु भिन्न-भिन्न कालों की भिन्न-भिन्न धाराओं के कवियों का एक ही साथ 'समान हृदय' होना तो किसी के लिए संभव नहीं। पर यह सामान्य अनुभव है कि परस्पर विरोधी गुणों एवं विभिन्न कालों के कवि भी प्रबुद्ध भावकों को अच्छे लगते हैं। यह 'प्रशस्त-हृदयता' द्वारा ही संभव है। 'समान हृदयता' होने पर, भावक एवं कवि का तादात्म्य हो जाने के फलस्वरूप आस्वादन अधिक गहरा एवं कई स्तरों पर होता है, यह ठीक है किन्तु उससे सीमाबद्धता का खतरा भी बढ़ जाता है। अतः सहृदयता की कल्पना एक ऐसे वृत्त के रूप में की जानी चाहिए जिसके केन्द्र में समान-हृदयता हो और जिसकी परिधि प्रशस्त-हृदयता की हो।

मिश्रजी की विषयानुरूप बदलती हुई लेखन शैली अत्यंत प्रभावपूर्ण है। जब वे परम्परागत ज्ञान का परिवेशन करते हैं तब उनका प्राध्यापक रूप प्रधान हो उठता है। विवेच्य विषय की निर्भ्रान्ति स्पष्ट व्याख्या वे प्रसाद गुण सम्पन्न, सुखपाठ्य, व्यास शैली में करते हैं ताकि "समुझै बाला, बालकहु बैनन पथ अगाध।" जब वे अपने प्रिय कवियों की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हैं तब उनका गंभीर विश्लेषणात्मक समीक्षक रूप प्रकट होता है। मूल के पद-पदार्थ के परिज्ञान के सहारे समीक्ष्य की तलस्पर्शी ईक्षा वे करते हैं और अत्यन्त चुस्त गठी हुई समास शैली में उसकी विशिष्टता का निरूपण करते हैं किन्तु इसका समुचित रसास्वादन करने के लिए पाठक में भी गहरी साहित्यिक विदग्धता अपेक्षित है। जब वे अपने प्रतिपक्षियों का खंडन करने में प्रवृत्त होते हैं तब उनका योद्धा रूप व्यक्त होता है। परिहास-चटुल शैली में श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हुए वे विरोधी तर्कों के धुर्रे उड़ा देते हैं। उनके व्यंग्य तो 'मेरे जान बान हैं अचूक चापधारी के।' भाषा का समर्थ, पांडित्यपूर्ण प्रयोग उनकी बहुत बड़ी शक्ति है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मिश्रजी हिन्दी के प्रथम श्रेणी के समीक्षकों में से हैं। साहित्यिक पांडित्य और सरस विदग्धता का ऐसा मणि-कांचन संयोग बहुत विरल होता है। हिन्दी साहित्य के विविध कालों और विभागों पर उन्होंने अपने मूल्यवान विचार प्रकट किये हैं किन्तु विशेष रूप से शृंगारकालीन साहित्य के सम्यक्बोध के लिए तो उनकी कृतियों का परिशीलन अनिवार्य है और बहुत काल तक अनिवार्य रहेगा।

सन्दर्भ संकेत

१. गोसाईं तुलसीदास—ले० श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पुरोवाक् पृ० ६
२. भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, संपादकीय पृ० ४५
३. हिंदी का सामयिक साहित्य (परिवर्धित संस्करण) पृ० ८१-८२
४. हिंदी का सामयिक साहित्य पृ० १२०
५. चिन्तामणि (दूसरा भाग) पृ० ७६
६. हिंदी साहित्य का अतीत (पहला भाग) पृ० १३
७. गोसाईं तुलसीदास पृ० ५६
८. हिंदी का सामयिक साहित्य पृ० १८०
९. वाङ्मय विमर्श (प्रथम उपस्करण) पृ० १४३
१०. काव्यमीमांसा (बि० रा० परिषद) पृ० ११
११. वाङ्मय विमर्श पृ० १३५
१२. वाङ्मय विमर्श पृ० १३६
१३. हिंदी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग) पृ० ३३५
१४. हिंदी का सामयिक साहित्य पृ० ८
१५. हिंदी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग) पृ० ३३४-३५
१६. पद्माकर पंचामृत (प्रथम संस्करण) प्रवचन पृ० ३
१७. वही पृ० ४
१८. रामचरित मानस (काशिराज संस्करण), आत्म-निवेदन पृ० २५
१९. केशव ग्रंथावली (खंड ३), हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद पृ० १८
२०. वही पृ० १९
२१. श्री रामचरित मानस (का० सं०) पृ० २६
२२. "प्रत्येक संपादन कार्य में अर्थ विमर्श आवश्यक होता है..." डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पदमावत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्याख्या (भारती भंडार, इलाहाबाद) प्रस्तावना पृ० ७

२३. पद्‌मावत (संजीवनी व्याख्या) साहित्य सदन, चिरगांव (प्रथमावृत्ति) प्राक्कथन पृ० ११ तथा पद्‌मावत, भारती भंडार, इलाहाबाद पृ० २७६

२४. रामचरित मानस (का० स०), आत्मनिवेदन पृ० २८

२५. विस्तार के लिए देखिये 'एन्साइक्लोपीडिया आफ पोयेट्री एण्ड पोयेटिक्स' में संकलित 'क्रिटिसिज्म' के अन्तर्गत 'टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म' सं० अंश

२६. हिंदी साहित्य का अतीत (पहला भाग) पृ० ३३

२७. गोसाईं तुलसीदास पृ० २७६-३०८

२८. हिंदी साहित्य का इतिहास, वक्तव्य पृ० ५ सं० २००३ वि० का० सं०

२९. वही पृ० २४१

३०. देखिये, हिंदी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग) अनुवचन पृ० ७-९ तथा पृ० ३५३-३६५

३१. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० ५ सं० २०१५

३२. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० १६४

३३. रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९ ई०) पृ०१७२

३४. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना ना प्र० सभा, प्रथमावृत्ति सं० २०१५, पृ० ६

३४. बिहारी, वाणी वितान, ब्रसानाल, वाराणसी सं० २००७ पृ० २८

३५. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ० ६

३६. वही पृ० ६-७

३७. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४१

३८. घनानंद ग्रंथावली—प्रस्तुत ग्रंथावली पृ० ४

३९. वाङ्मय विमर्श पृ० १४६-४७

४०. गोसाईं तुलसीदास पृ० ६०

४१ वही पृ० ५९

४२. बिहारी पृ० १०१

४३. पद्‌माकर पंचामृत पृ० २१

४४. वही पृ० ४

४५. हिंदी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग) पृ० ५८४

४६. केशव ग्रंथावली (खंड ३) पृ० ३४

४७. हिंदी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग) पृ० ३८५

४८. भूषण—द्वितीय संस्करण सं० २०१७, वाणी वितान प्र० वाराणसी पृ० ५२

४९. वही पृ० ४१

५०. हिंदी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग) पृ० ६३२

५१. हिंदी का सामयिक साहित्य पृ० ३४२

५२. वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: १ :

जलते हुए जंगल के पास

फिर हम उस सुनसान में पहुँचे
जहाँ बरसों से एक जंगल जल रहा था ।
लोग वहाँ नहीं थे ।
जानवर नदी पार चले गये थे ।
चिड़ियों के लिए
कोलाहल का कोई कारण नहीं था ।
जंगल जल रहा था
धुआँ देता, चरमराता ।

हमारे दोनों ओर ढलान थी ।
हवा बेतरतीब थपेड़े देती हुई आ रही थी
ज्यादातर सर्द, एकाध झोंके गर्म ।
जहाँ तक आँख जाती थी
कोई अवरोध नहीं था ।
हमने पूछा, क्या हम यहाँ रुकेंगे ?
उसने कहा, नहीं, यहाँ हम अपने साथ लाई हुई
प्रेत-घटनाओं को विसर्जित करेंगे ।

फिर हमने
सुलगती हुई दिशा की ओर मुँह कर के
आवाज़ दी ।
हमारी आवाज़
बीच से दो फाँकों में बँट कर
दूर तक बजती चली गयी ।
यह हमने देखा ।
इस तरह वह घटित हुआ
जो वह पहले ही कह चुका था ।

तब हमने पूछा,
हम यहाँ से क्या ले जायेंगे ?
उसने कहा, यहाँ से कोई
कुछ नहीं ले जाता ।
इसके बाद
आदमी बैरागी हो जाता है ।

इस पर हममें सन्नाटा छा गया
जो देर तक बना रहा ।
और हम चुपचाप चलते रहे ।
आधा दिन चलने के बाद
हमने पूछा,
हममें से कौन-कौन बैरागी हो जायगा ?
उसने कोई उत्तर नहीं दिया
और चुपचाप चलता रहा ।

: २ :

और मैं पागल हो जाता हूँ

इन दबी हुई यादगारों से खुशबू आती है
और मैं पागल हो जाता हूँ
जैसे महामारी डसा चूहा
ज़मीन से निकल कर खुले में नाचता है
फिर दम तोड़ देता है ।

न जाने कितनी बार
मैं नाच-नाच कर
दम तोड़ चुका हूँ
और लोग सड़क पर पड़ी मेरी लाश से
कतरा कर चले गये हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य भाषा का स्वरूप

विजेन्द्र नारायण सिंह

किसी काव्य या साहित्य का चरम अवयव भाषा होती है। इसलिए काव्य में भाषा के प्रयोग की समस्या सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। भाषा का अध्ययन प्रधानतया भाषा-विज्ञान का क्षेत्र रहा है, किन्तु भाषा-विज्ञान भाषा के क्रियाकलाप के सौन्दर्यवादी पक्ष को ध्यान में रखता है। काव्यभाषा के अध्येताओं को इसी सौंदर्यवादी पक्ष को उभारना होता है। उन्हें भाषा के आभ्यंतर स्वरूप की मीमांसा करनी होती है, भाषा-संस्कार के स्तरों और विभिन्न वर्गों को पहचानना पड़ता है, शैली की विशिष्टताओं का उद्घाटन करना होता है। वर्डस्वर्थ ने कविता की भाषा की विशिष्ट शैली के सम्बन्ध में यह कहा कि उनकी ठीक-ठीक व्याख्या तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि हम इस प्रणाली की मीमांसा न कर लें कि किस प्रकार भाषा और मनुष्य के मन का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा करता है। कहना न होगा कि ऐसी स्थिति में न केवल साहित्यिक क्रान्तियों बल्कि सामाजिक क्रान्तियों के प्रति भी हम निरपेक्ष नहीं रह सकते। कारण यह है कि वे भाषा को प्रभावित करती हैं।

शास्त्र से अतिक्रमण

कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'विचित्र अभिधा' कहकर काव्य भाषा की इसी सौन्दर्यवादी प्रकृति की ओर इशारा किया है। काव्यभाषा के सौन्दर्यवादी तत्व की बाधाएं दो हैं—शास्त्र और लोक। शास्त्र के शब्द नंदतिक दृष्टि से निष्प्राण होते हैं और लोक के शब्द अतिसाधारण और ग्राम्य। काव्यभाषा को अपनी महिमा की प्राप्ति के लिए इन दोनों अतिवादों से बचकर निकलना पड़ता है। कुन्तक की वक्रोक्ति काव्यभाषा की इसी सौन्दर्यवादी प्रकृति को व्यक्त करने की पारिभाषिक संज्ञा है। काव्य की भाषा शास्त्र की भाषा से भिन्न होती है। शास्त्र की भाषा तार्किक मन की उपज है, काव्य की भाषा काव्यमय मन की। हो सकता है कि भाषा के उद्भव और विकास की प्रकृति के सम्बन्ध में कवि की जो विभावना है, वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण में पूरी की पूरी अभियोजित न की जा सके। किन्तु जब हम भाषा के समीप कवित्वपूर्ण ढंग से पहुँचते हैं, तो भाषा ही काव्य बन जाती है। अतएव किसी भी विद्वान के लिए काव्य का अन्तिम विश्लेषण भाषा का का ही विश्लेषण बन जाता है। काव्यालोचन का पंडित काव्यानंद को अनुभूति की लय के भीतर की लय, बिम्ब के भीतर के बिम्ब तथा शब्दों के अर्थों में प्रच्छन्न अर्थों का उद्घाटन कर बढ़ा देता है। महान् भाषाविद् वॉसलर ने कहीं लिखा है कि भाषा ही आत्मा की अभिनेत्री है, जिसकी आवाज के बिना कविता और इसके साथ ही चिंतन, इच्छा और ज्ञान, ये सब जो अभिव्यंजना चाहते हैं, मूक रह जायेंगे।" हम कह सकते हैं कि भाषा में कविता उसी प्रकार सन्निहित रहती है जिस प्रकार फूल में फल।

किसी विद्वान ने भाषा को मुरझाये हुए रूपकों का कोष कहा है। जब हम भाषा की अपरिसीम समृद्धि और प्रकाश को देखते हैं, तो ब्लूमफील्ड के शब्दों में कविता को 'भाषा का अलंकृत ग्रंथ' कहने का लोभ संवरण नहीं कर पाते हैं। कवित्व की भाषा की बात छोड़िये, स्वयं भाषा कवित्व है। भाषा सभी प्रकार के ज्ञानों तक प्रसरित है और वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से कुछ न कुछ ग्रहण करती है। भाषा का कवित्व, निश्चय ही, कविता में अपने प्रकर्ष पर रहता है। भाषा के किसी और प्रकार और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग में, ध्वनि और भाव का वैसा विलक्षण संबंध संघटित नहीं होता, जैसा कि कविता में होता है। शब्दों को अधिक कवित्वमय और व्यंजक बनाने में कविता भाषा की सुप्त शक्तियों को जाग्रत करती है और परिणामस्वरूप उसके अपूर्ण लक्ष्यों को पूर्णता प्रदान करती है। कविता, जैसा कि वॉसलर ने कहा है कि "भाषा का सच्चा तत्व है। यहाँ आकर भाषा अन्तिम परिणति पर पहुँचती है; यहाँ यह प्रतीक और माध्यम बन सकती है, उसके बाह्य और आभ्यंतर रूप का समीकरण हो सकता है।" वॉसलर ने कविता की तरह दीखनेवाली भाषा का वर्णन करते हुए कहा है कि "यहाँ यह किसी प्रवृत्तिगत सम्मान से मुक्त रह कर अपने आप में चिंतन की समाहिति में रहती है और एक सूर्य की तरह सभी दिशाओं में प्रकाश विकीर्ण करती है।" संक्षेप में; कविता में भाषा की महिमा अपने प्रकर्ष पर रहती हैं और जिस कवि को भाषा की जितनी बारीक पहचान होगी वह उतना ही महान् कवि होगा।

कुन्तक वक्रोक्ति के आधारभूत विभावन (Fundamental Conception) में ही काव्यभाषा के नंदतिक (aesthetic) पक्ष के प्रति सचेष्ट है। कुन्तक ने शास्त्र और काव्य, बौद्धिक और रम्य रचना के पार्थक्य को सुस्पष्ट करते हुए यह कहा है कि काव्य के शब्दार्थ शास्त्र के शब्दार्थ से भिन्न होते हैं। वह यह भी स्वीकारते हैं कि काव्यभाषा सामान्य व्यवहार की भाषा से भिन्न वैचित्र्य लिए हुए होती है और यहीं वह कलागत अभिव्यंजना का स्वाभाविक उक्ति से पार्थक्य स्थापित कर देते हैं। उनके अनुसार यह वक्रत्व भंगीभणिति पर आश्रित है। उनकी यह भंगीभणिति यथातथ्य विवरण की तुलना में काव्यात्मक अभिव्यंजन की अपनी विशिष्टता है। कुन्तक जिसे वैदग्ध्य कहते हैं, उसी को लोंगिनुस ने वाक्-प्रतिभा कहा है। उदात्त भाषा के पाँच प्रमुख उद्गम स्रोतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि "इन पाँच विभिन्न गुणों के नीचे एक प्रकार से एक सामान्य आधार है जो हर स्थिति में अनिवार्य है। वह आधार है वाक्-प्रतिभा।" अग्निपुराण के रचयिता ने इसीलिए काव्य को वाग्वैदग्ध्य प्रधान कहा है। निश्चय ही यह वैदग्ध्य काव्यभाषा के नंदतिक पक्ष को उभारने में सहायक सिद्ध होता है।

ऐसी बात नहीं है कि शास्त्रभाषा से भिन्न काव्यभाषा की पृथक् प्रकृति को पहली बार कुन्तक ने ही लक्ष्य किया हो। हाँ, यह अवश्य है कि इसे व्यापक नंदतिक आधार प्रदान करने का कार्य उनके द्वारा ही सम्पन्न हुआ। उनसे पहले भामह ने काव्यभाषा के इस नंदतिक पहलू को लक्ष्य किया था। उन्होंने काव्य और शास्त्र के आधारभूत अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया है कि काव्य लोकाश्रित होता है और आगम तत्वदर्शी। काव्य के लोकाश्रित होने से भामह का तात्पर्य यह है कि वह सांसारिक वस्तुओं को आधार बनाकर चलता है और उसका लक्ष्य होता है चमत्कार उत्पन्न करना। किन्तु शास्त्र तत्त्वदर्शन का आग्रही होता है, वह काव्य के समान दृश्यमान जगत को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लेता, उसके पीछे जो वास्तविकता है उसे देखने का प्रयास करता है। शास्त्र की तुलना में काव्य के शब्द अधिक व्यंजक होते हैं। उनकी ध्वनि दूर-दूर तक जाती है—"शब्दो दूरानुपात्ययम्" (का० ५ ।। ३४ ।।)। काव्यभाषा के इस नंदतिक पक्ष का भामह ने जो निकष बनाया है वह वक्रोक्ति का निकष है। शब्दों का अनन्त विस्तार जानना किसी के लिए भी संभव नहीं है। अतएव उन्होंने वक्रोक्ति-प्रवण कवियों के योग्य शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व पर ही विचार किया है। भामह ने यह अनुभव किया था कि अन्य शास्त्रों में प्रयुक्त अतिपारिभाषिक शब्दों से भी कवियों को बचना चाहिए। अतः उन्होंने शास्त्र से भिन्न काव्यमार्ग में भाषा के स्वरूप का निर्देश करते हुए लिखा है कि परम्परागत श्रवणसुखद, अर्थयुक्त शब्द काम में लाना चाहिये। भामह ने वर्णसौंदर्य को दूसरे अलंकारों से बढ़कर माना है।

राजशेखर के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उद्भट ने अर्थ के दो प्रकार स्थिर किये थे। एक अर्थ ऐसा होता है जो विचार करने पर स्थिर होता है। अर्थात् उस पर जितना विचार किया जाय, उतनी ही नवीनता मिलती है और इस अर्थ पर पर्याप्त रूप से तर्क-वितर्क भी किया जा सकता है। ऐसा अर्थ विचारित-सुस्थ है, जो दर्शन आदि शास्त्रों में वर्णित है। दूसरा, अविचारित रमणीय अर्थ काव्यों में पाया जाता है, जिसे आपात रमणीय भी कहते हैं। अतः शास्त्र और काव्य का अन्तर विचारित-सुस्थ और अविचारित रमणीय का अन्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। कहना न होगा कि काव्य में इस अविचारित रमणीय का उद्भव शास्त्रों से भिन्न शब्दार्थों की विशिष्टता के कारण संभव हो पाता है।

दण्डी ने शास्त्रभाषा और काव्यभाषा के भिन्न स्वभाव को स्पष्ट करते हुए स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में वाङ्मय के दो भेद किये हैं। उन्होंने काव्यभाषा के क्षेत्र की मीमांसा बारीकी से की है और चूंकि उन्होंने स्वभावोक्ति में वक्रत्व को अत्यन्त न्यून मात्रा में पाया, इसलिये उन्होंने उसे वक्रोक्ति से पृथक् ही रखा। उन्होंने कहा कि शास्त्रों में इसी का साम्राज्य है: "शास्त्रेस्वयस्यैव साम्राज्यं"। इस प्रकार स्वभावोक्ति से दण्डी का तात्पर्य यथावत् वर्णन से है जैसा कि शास्त्रों में होता है। दण्डी की इस कारिका पर विचार करती हुई 'हृदयंगमा' कहती है कि धर्मादि शास्त्रों में तत्त्व की प्रधानता के कारण असत्य वचन नहीं रहता है। काव्यों में वर्णन की प्रधानता के कारण असत्य और कल्पित वचन भी होते हैं। अनृतवचनाभाव और रिचर्ड्स का अभ्युद्देशन-सिद्धान्त एक ही चीज है।

राजशेखर के अनुसार शास्त्र और काव्य इन भेदों से वाङ्मय दो प्रकार का होता है। उन्होंने 'द्वा सुपर्णा समुजा सखाया' वाले श्वेताश्वर के मंत्र को उद्धृत करते हुए इसे शास्त्रोक्ति कहा है। अवश्य ही तब वे काव्योक्ति का इससे पृथक् अस्तित्व मानते हैं। राजशेखर का कहना है कि शास्त्र और काव्य में अर्थ और शब्द तो वे ही रहते हैं, फिर भी उक्ति-विशेष ही काव्य होता है।

अर्थ निवेशास्त एव शब्दास्त एव परिणामन्तोपि।
उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति या भवतु॥

इस प्रकार वह शास्त्रों से भिन्न उक्तिविशेष में काव्यत्व मानते हैं।

इस समस्या पर रचयिता की दृष्टि से सबसे अधिक तात्विक दृष्टि से भट्टनायक ने विचार किया है। उनके अनुसार शास्त्र शब्द-प्रधान होता है और आख्यान अर्थ-प्रधान। किन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों गुणीभूत हो जाते हैं और व्यापार की प्रधानता हो जाती है। तात्पर्य यह कि काव्य उभय अप्रधान (शब्द और अर्थ) होता है।

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥

तात्पर्य यह कि जब शब्दार्थ गुणों को कवि व्यापार का योग मिल जाता है तब वह काव्य हो जाता है और उसी भाषा को काव्यभाषा कहते हैं।

महिमभट्ट ने भट्टनायक की उद्भावना को किंचित् संशोधन के साथ स्वीकार किया है। वह मानते हैं कि काव्य में न तो केवल शब्द प्रधान होते हैं और न केवल अर्थ प्रत्युत यह उभयप्रधान होता है। उनके अनुसार शास्त्र तीन प्रकार के होते हैं—शब्दप्रधान, अर्थप्रधान और उभयप्रधान। उनमें शब्दप्रधान है वेदादि। अर्थप्रधान होते हैं इतिहास-पुराणादि। उभयप्रधान होते हैं महाकाव्य। वे रसात्मक होते हैं और रस शब्द और अर्थ दोनों के औचित्य से परिपुष्ट होता है। इस प्रकार महिमभट्ट भट्टनायक की तरह काव्य को उभय-अप्रधान न कहकर उभयप्रधान कहते हैं।

भोज ने भट्टनायक का अनुसरण न कर महिमभट्ट को ही प्रमाण माना है। वह भट्टनायक की तरह यह नहीं कहते हैं कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों व्यापार जैसी किसी अन्य वस्तु के गुणीभूत हो जाते हैं बल्कि यह कहते हैं कि काव्य में दोनों की प्रधानता होती है। वह लिखते हैं: "तत्र शब्दप्रधानमपौरुषेयं······अर्थप्रधानमार्थं स्मृतिरिति हासश्च ।······(उभय) प्रधानं पौरुषेयं च तदुभयमत्यभिनिविष्टवुद्धीनां विशिष्टविवक्षाभ्येजायते"। इससे आगे अपने 'शृंगारप्रकाश' के दशम प्रकाश में भोज ने शास्त्र और इतिहास को क्रमशः शब्द और अर्थ-प्रधान कहा है और काव्य को उक्ति-प्रधान। भोज जब यहाँ काव्य को उक्तिप्रधान कहते हैं तब राजशेखर की परिभाषा 'उक्तिविशेषः काव्यं' का प्रभाव स्पष्टतः दीख पड़ता है। भोज इस पार्थक्य को एक अन्य धरातल पर भी उपस्थित करते हैं। वह कहते हैं कि शास्त्र और लोक-व्यवहार में प्रयुक्त अवक्रवचन तो वचन मात्र है। वह केवल अर्थवाद आदि में प्रयुक्त वक्रवचन को काव्य मानते हैं। वह कहते हैं:—

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्यकाव्यमिति स्मृतिः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार भोज काव्य को शास्त्रों से भिन्न शब्दार्थ-प्रधान और वचनवक्रता से युक्त मानते हैं।

विद्याधर ने 'एकावली' में सादृश्य की भाषा का उपयोग करते हुए भट्टनायक की इस उद्भावना को स्पष्ट किया है और काव्य को ध्वनि से जोड़ दिया है। वह कहते हैं—

शब्दप्रधानं वेदाख्यं प्रभुसंमितमुच्यते ।
ईषत्याठान्यथा पाठे प्रत्यवायस्य दर्शनात् ॥
इतिहासादिकशास्त्रं मित्रसंमितमुच्यते ।
अस्यार्थवादरूपत्वात् कथ्यतेऽर्थप्रधानता ॥
ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासंमितमीरितम् ।
शब्दार्थोगुणनां नीत्वा व्यंजनप्रवणं यतः ॥

अर्थात् वेदादि शब्दप्रधान होने से प्रभुसंमित होते हैं, इतिहास अर्थ-प्राधान्य के कारण मित्रसंमित है और काव्य में शब्द और अर्थ गुणीभूत होकर व्यंजनाप्रवण हो जाते हैं। इस प्रकार विद्याधर महिमभट्ट और भोज की तुलना में भट्टनायक के अधिक समीप ठहरते हैं। अग्निपुराण भी भट्टनायक की तरह ही व्यापार की प्रधानता से काव्य को शास्त्र और इतिहास पृथक् करता है। उसके अनुसार शास्त्र शब्दप्रधान होता है, इतिहास में इतिवृत्तात्मकता का महत्व होता है और काव्य अभिधाव्यापार की प्रधानता के कारण शास्त्र और इतिहास से पृथक् हो जाता है। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य में व्यापार की प्रधानता होने के कारण शब्दार्थ गुणीभूत हो जाते हैं।

व्याकरण जैसे शास्त्र पद की व्यतिरिक्तता को प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिए उनमें चारुता नहीं आ पाती है। प्रसिद्ध जर्मन सौंदर्यशास्त्री लेसिंग ने काव्य में शब्दों की व्यतिरिक्तता की बड़ी स्वच्छ व्याख्या की है। वह लिखते हैं कि "गद्य लेखक सरल प्रतिपादन और स्पष्ट वर्णन से तुष्ट हो जाता है किन्तु एक कवि को मात्र अर्थव्याप्ति से आत्मपदलाभ नहीं होता है। कवि को तो हममें उन्हीं अवधारणाओं को उतनी ही त्वरा से जगाना चाहिए जितनी त्वरा से इन अवधारणाओं से सम्बद्ध उपयुक्त वस्तुएं हमारी इन्द्रियों को उत्तेजित करती हैं। माया के इस क्षण में उसके औजार—यानी शब्द—जिससे यह प्रभाव उत्पन्न होता है, हम भूल जाते हैं।" रिचर्ड्स ने इस व्याख्या को मनोवैज्ञानिक गहराई दे दी है। उनके अनुसार भाषा के दो प्रयोग होते हैं—उक्ति (Statement) और अभिव्यंजना (expression) उक्ति वह है जिसमें वक्ता के कथ्य का अर्थबोध ही प्राथमिक महत्व का होता है। अभिव्यंजना वह है जिसमें वक्ता के मानसिक व्यापार, विचार की दृष्टि से महत्वपूर्ण बन जाते हैं। इसलिए उक्तिप्रधान शास्त्र शब्दप्रधान रह जाता है और काव्य में शब्द व्यतिरिक्तता को प्राप्त होते हैं।

रिचर्ड्स ने भाषा के वैज्ञानिक और रागपरक प्रयोग बतलाए हैं। उन्होंने शास्त्रभाषा को ही वैज्ञानिक भाषा कहा है। 'प्रिंसिपुल्स आफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' नामक ग्रंथ में रिचर्ड्स ने भाषा के इन दो प्रयोगों के अन्तर को इनसे सम्बद्ध विभिन्न मानसिक क्रियाओं के अन्तर के आधार पर स्पष्ट किया है। उसमें मन के विषय में प्रचलित आम धारणाओं से रिचर्ड्स की प्रमुख असहमति इस बात को लेकर व्यक्त हुई है कि उन्होंने ज्ञान, भावना और इच्छा नामक मन के त्रिविध पक्षों को मानसिक घटनाओं के हेतु, विशेषता और परिणाम के द्वारा स्थानापन्न किया है। रिचर्ड्स मानसिक घटनाओं के हेतुओं में दो विभिन्न समूह देखते हैं जिनमें अन्तर देखना वह आवश्यक मानते हैं। हेतुओं के इन दो अलग-अलग समूहों में एक तरफ तो वे वर्तमान उद्दीपन हैं जो ऐन्द्रिक स्नायुओं के द्वारा मन तक पहुँचते हैं और जिनसे सम्बद्ध व्यतीत उद्दीपनों का प्रभाव भी साथ-साथ पहुँचता है और दूसरी तरफ जीव की अपनी स्थिति, उसकी आवश्यकताएँ, इस या उस उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया प्रकट करने की उसकी तत्परता जैसे कारण रहते हैं। उत्पन्न होने वाले आवेग इन दोनों हेतु-समूहों के आपसी घात-प्रतिघात से अपनी विशेषताएँ प्राप्त करते हैं। इन मानसिक हेतु-समूहों के अन्तर को ध्यान में रखना जरूरी है। रिचर्ड्स कहते हैं कि दोनों प्रकार के हेतु-समूहों के आपेक्षिक महत्व में बहुत बड़ा अन्तर है। पूरा भूखा आदमी सामने जो कुछ पायेगा, निगल जायेगा। खाद्य-पदार्थ की प्रकृति उसके व्यवहार पर बहुत कम असर डालेगी। किन्तु कोई तृप्त व्यक्ति वही खायेगा जो उसके लिए सुस्वादु होगा या बहुत लाभप्रद होगा, जैसे दवा। इस तरह, इस दूसरे व्यक्ति का व्यवहार पूर्णतः उसके चाक्षुष या घ्राणीय उद्दीपनों की विशेषताओं पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्भर करेगा जबकि प्रथम व्यक्ति का व्यवहार उसकी अपनी मानसिक स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप होगा।

जिस सीमा तक कोई आवेग अपनी विशेषता के लिए अपने उद्दीपन के प्रति ऋणी है उस सीमा तक वह 'अभ्युद्देशन' (Reference) है। यानी आवेग की विशेषताएँ जहाँ बाह्य उद्दीपनों पर आधृत रहती हैं वहाँ 'अभ्युद्देशन' सम्पन्न होता है। अभ्युद्देशन का अर्थ है, वस्तु आन्तरिक परिस्थितियों से अप्रभावित रहकर हमारे समक्ष जिस रूप में प्रस्तुत होती है उसके उसी रूप का निर्देश करना। ऐसा तभी संभव होता है जब हमारे आवेगों को बाह्य उद्दीपनों की प्रकृति की अनुरूपता प्राप्त हो और आन्तरिक आवश्यकताएँ उन्हें प्रभावित और परिवर्तित नहीं करें। किन्तु, आन्तरिक आवश्यकताएँ और इच्छाएं भी आवेगों की विशेषताओं का निर्धारण करती हैं जिसके परिणामस्वरूप अभ्युद्देशन में विकार आ जाता है और वह हमारी इच्छाओं के अधीन हो जाता है। रिचर्ड्स कहते हैं कि दोनों प्रकार की क्रियाओं को जीवन में देखा जा सकता है और दोनों का अपना निजी महत्व है। मनः कल्पनाएं ऐसी क्रियाएं हैं जिनमें आन्तरिक आवश्यकताओं से प्रभावित अभ्युद्देशनों की अपेक्षा रहती है। विज्ञान, दूसरी तरफ, अविकृत अभ्युद्देशनों की व्यवस्था है। उसमें वस्तु के तद्गत स्वरूप पर ध्यान दिया जाता है। हमारे आवेग वहाँ बाह्य उद्दीपनों की प्रकृति का अनुसरण करते हैं, आन्तरिक आवश्यकताओं से प्रेरित और प्रभावित नहीं होते।

उपर्युक्त दो क्रियाओं के आधार पर भाषा के जो द्विविध प्रयोग देखने में आते हैं उनका स्पष्टीकरण करते हुए रिचर्ड्स का कहना है कि कोई कथन अपने कारण घटित सच्चे या झूठे अभ्युद्देशन के लिए प्रयुक्त हो सकता है। यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग है। किन्तु, कोई कथन अपने कारण घटित अभ्युद्देशन द्वारा आवेगों और अभिवृत्तियों में उत्पन्न होने वाले प्रभावों के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है। यानी, हम शब्दों को उन अभ्युद्देशनों के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं जिन्हें वे प्रेरित करते हैं या उन अभिवृत्तियों या आवेगों के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं जो संभव होते हैं। बहुत-सी शाब्दिक व्यवस्थाएँ अपने मार्ग पर अभ्युद्देशन को बिना आवश्यक बनाये अभिवृत्तियाँ प्रेरित करती हैं, पर सामान्यतः अभ्युद्देशन अभिवृत्तियों के विकास के लिए शर्तों के रूप में या उनके विकास की विविध स्थितियों के रूप में निहित होते हैं। तथापि इनमें महत्व अभिवृत्तियों का होता है न कि अभ्युद्देशनों का। यहाँ अभ्युद्देशन का एकमात्र कार्य अभिवृत्तियों को संभव बनाना और उन्हें सहारा देना रहता है। ये अभिवृत्तियाँ परवर्ती अनुक्रियाएँ होती हैं। इस प्रकार के भाषा-प्रयोगों में यह बात महत्वहीन होती है कि अभ्युद्देशन सही हैं या झूठे। इसीलिए उनकी सत्यता असत्यता का प्रश्न उठना अनपेक्षित है। कविता में भाषा का ऐसा ही रागात्मक प्रयोग होता है जिसमें अभ्युद्देशन अभिवृत्तियों के सहायक के रूप में गौण महत्व रखते हैं। इसीलिए कविता का योग्य पाठक उसके अभ्युद्देशनों के सत्यासत्य की जाँच करने का अनपेक्षित प्रयत्न नहीं करता। रिचर्ड्स ने थोड़ा झुँझलाकर लिखा है कि अधिकांश कविताएँ ऐसी उक्तियों से बनी होती हैं जिनके सत्यापन (Verification) का प्रयास बज्र मूर्खों को छोड़कर और कोई नहीं कर सकता।

काव्य और शास्त्र की भाषा में मुख्य तात्विक अन्तर यह है कि शास्त्र की भाषा का कोई आवेगात्मक प्रभाव नहीं होता है। "भाषा के द्विविध प्रयोगों में निहित मानसिक क्रियाओं का अन्तर बहुत बड़ा है पर इस अन्तर की प्रायः उपेक्षा की जाती है। रिचर्ड्स ने इनके अन्तर के महत्व को इन प्रयोगों की विफलता पर विचार करते हुए स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि भाषा के वैज्ञानिक अभ्युद्देशन में थोड़ा अन्तर आते ही आप से आप विफलता आ जाती है चूँकि वहाँ उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। किन्तु, भाषा के रागात्मक प्रयोग में अभ्युद्देशनों के व्यापक अन्तर का भी कोई महत्व नहीं होता यदि अभिवृत्तियों और संवेगों के प्रभाव अपेक्षित ढंग बने रहें। इसके अलावा भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग में सफलता के लिए अभ्युद्देशनों का सही होना ही अनिवार्य नहीं है अपितु उनके सम्बन्ध का तार्किक होना अनिवार्य है। उनमें व्याघात या असंगति जैसे तार्किक दोष नहीं रहने चाहिएं। उन्हें इस तरह व्यवस्थित होना चाहिए जिससे आगामी अभ्युद्देशन प्रतिबद्ध न हो। किन्तु, रागात्मक उद्देश्यों के लिए तार्किक व्यवस्था अना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वश्यक होती है । तार्किक व्यवस्था उनके लिए बाधा हो सकती है और प्रायः होती भी है । भाषा के रागात्मक प्रयोगों में महत्व अभ्युद्देशनों के कारण घटित होने वाली अनेक क्रमबद्ध अभिवृत्तियों की अपनी उचित व्यवस्था का होता है, उनकी संवेगात्मक सम्बन्धसूत्रता का होता है । ये चीजें उन अभ्युद्देशनों के तार्किक सम्बन्धों पर निर्भर नहीं करतीं जो अभिवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं ।"[1]

सच तो यह है कि कविता की पहली सीढ़ी ही अभ्युद्देशन को अतिक्रांत करने की सीढ़ी होती है । यहाँ तर्क और संगति से हमारा मन मुक्त होने लगता है और हम विश्वासों के लोक में पहुंच जाते हैं । रागप्रेरित मन हर असंभव को संभाव्य मानकर चलता है । सादृश्यविधान का देश अभ्युद्देशन की सीमा से परे ही शुरू होता है । इसके अपने विधि-विधान हैं । ऊँची कल्पना की बात छोड़िये, जब हम किसी को चन्द्रमुखी कहते हैं तब हम अभ्युद्देशन से मुक्त हो जाते हैं । भला चन्द्रमा जितना बड़ा मुंह किस घर में अँटेगा । यदि मुँह सचमुच चन्द्रमा जैसा ही हो तब तो घर में प्रकाश-व्यवस्था की भी आवश्यकता न पड़े । किन्तु ऐसी शंका हम उठाते ही नहीं हैं । अलंकार-शास्त्रों में वर्णित विरोधगर्भ अलंकार जैसे विशेषोक्ति, विभावना और असंगति आदि संगति से रहित, तर्क से विच्छिन्न और व्याघात से युक्त होते हैं । कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना विशेषोक्ति अलंकार कहाता है । कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति विभावना है । कारण और कार्य की भिन्नदेशता असंगति अलंकार है । यथा—

दृग उरझत, टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परत गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ।।

बिहारी के इस दोहे में उलझती हैं आँखें पर टूटता है कुटुम्ब से सम्बन्ध । फिर जो चीज टूटती है वही पीछे जुड़ती है; यहाँ टूट तो रहा है कुटुम्ब से सम्बन्ध और जुड़ रहा है चतुरों के हृदय का प्रेम । गाँठ पड़नी चाहिए उलझने वाली चीजों में, पर गाँठ पड़ती है दुर्जनों के हृदय में । इस प्रकार व्याघात और असंगति से युक्त काव्यभाषा अभ्युद्देशन से टूट कर शक्ति प्राप्त करती है । यही इसकी 'नई रीति' है । प्रसाद की पंक्तियाँ हैं—

मेरे जीवन की उलझन, बिखरी थीं उनकी अलकें ।
पी ली मधु मदिरा किसने, थीं बन्द हमारी पलकें—आँसू

यह कैसा ढंग है । पीए कोई और आँखें झिपें किसी और की, उलझन से परेशान हो कोई और लट बिखरे हों किसी और के । किन्तु इन पंक्तियों की रमणीयता इसी असंगति के कारण है ।

कवि आभ्यन्तरिक राग की, उच्चतर संगति की खोज करता है । इस खोज में वह बाह्य तथ्यों के व्याघात और असंगति की चिन्ता नहीं करता है । यदि उसके रागलोक में अन्विति है तो फिर बाह्य विश्व की अन्वितिहीनता उसके लिए महत्वहीन हो जाती है । सफल उलटबाँसियों का निर्माण तब होता है जब रागलोक की अन्विति इतनी सूक्ष्म और गहन होती है कि बाह्य विश्व से उसका सम्बन्ध समग्रतः टूट जाता है । कबीर की एक उलटबाँसी में वक्ता उस नगर की कोतवाली करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है जिसमें निवास करने वाला पुरुष चंचल और स्त्री विचक्षण है । जहाँ पर बैल को प्रसव होता है और गाय बन्ध्या बनी रहती है तथा तीनों समय बछड़ा दुहा जाता है । मकड़ी के घर की देखभाल मक्खी करती है और मांस की रखवाली चील । बिल्ली रूपी नौका का खेवनहार चूहा है तथा मेंढक के शयनकक्ष का प्रतिहारी सर्प । जहाँ नित्य सियार और सिंह के बीच संग्राम छिड़ा रहता है । सचमुच इस विचित्र स्थिति की जानकारी किसी बिरले को ही हो पाती है । यहाँ रागलोक का सम्बन्ध अभ्युद्देशन से पूरी तरह टूट गया है । व्याघात और असंगति अपने प्रकर्ष पर हैं । किन्तु, रागलोक की अन्विति ने यहाँ प्रतीकभाषा का रूप ग्रहण कर लिया है । "यदि हम नगर को मानव-शरीर के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर उसके निवासी पुरुष-स्त्री को क्रमशः मन एवं मन से उद्भूत कामना का प्रतीक समझ लें तो हमें इस विचित्र कार्य-व्यापार में भी एक अनूठापन मिलने लगेगा । विविध संस्कारों के बोझ से आक्रान्त बैल रूप कलुषित मन अनेक प्रकार की दुर्भावनाओं को जन्म देता है किन्तु सात्त्विक वृत्ति बन्ध्या गाय की भाँति निश्चेष्ट बनी रहती है । ऐसी स्थिति में बछड़ा रूपी इन्द्रियों से मनमाना काम लिया जाने लगता है । इस प्रकार

१. डॉ. शंभुदत्त झा : रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धान्त : पृ० १२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अराजकता में कामना (मक्खी), माया (मकड़ी) के घर की मालकिन बन बैठती है और चील की भाँति लोलुप दृष्टिवाली बनकर अपने चारों ओर फैले विषयों की रक्षा करने लग जाती है। दुर्बुद्धि रूपी बिल्ली जो प्रायः मन रूपी मूषक पर आक्रमण कर बैठती है, इस समय नाव जैसी बन जाती है जिसका वह कर्णधार बन जाता है अर्थात् मन, दुर्बुद्धि का संचालन करते हुए उससे मनमाना काम करवाने लगता है तथा संशयरूपी सर्प को अपने निकट देखकर भी सुख की नींद सोने का बहाना करता है। मन की इन कार्यवाहियों से हमारी आन्तरिक वृत्ति निरन्तर अस्थिर बनी रहती है जिससे तंग आकर शृगाल रूपी जीव को निरन्तर सिंह रूपी काल से युद्ध करना पड़ता है।" यहाँ कवि प्रतीकों द्वारा व्यक्त रागलोक की अन्विति और संगति को बाह्य अभ्युद्देशन के व्याघात और असंगति के बावजूद सुरक्षित रख सका है। कविता में यही मुख्य है। कवि इसी के लिए उपमा, रूपक, प्रतीक आदि की खोज करता रहता है।

काव्यभाषा में अभ्युद्देशन की यह अस्तव्यस्तता देखने लायक होती है। इस अस्तव्यस्तता से यहाँ चमत्कार ही उत्पन्न होता है। कवि थोड़ा-थोड़ा रूमानी जरूर होता है। उसमें जो सहज मौग्ध्य का भाव रहता है उससे वह सहज ही "अर्थवाद" (भोज की भाषा) की महिमा से संबलित हो उठता है। इसलिए वह वस्तुओं को सही रूप में नहीं देखता है—या तो वह अत्यन्त उदात्त रूप में देखता है या एकदम गर्हित रूप में। यथातथ्यता उसकी कोई विशेषता नहीं होती है। दिनकर जब रोमांटिक आवेग से चालित होकर हिमालय को 'साकार, दिव्य गौरव विराट' के रूप में देखते हैं तब अभ्युद्देशन का कोई तुक नहीं रह जाता है। उसे "पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल" कहने के पीछे भी यहा प्रेरणा है। हिमालय तो शिलाओं का ढेर है। जड़ी-बूटियों का आगार है। वह तो जड़ता का साकार रूप है। चेतना की उसमें कोई हिलकोर नहीं उठती है। किन्तु कवि राग से आलोड़ित, मथित और सुरभित होकर उससे अंगड़ाई लेने को कहता है जिससे धरती हिल उठे तथा उसके निनाद से कुहा फट जाये और प्रमाद भाग खड़ा हो।

ले अंगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुंकार भरे
फट जाय कुहा भागे प्रमाद।

उच्चतर रागान्विति एवं अर्थवाद ने इन पंक्तियों को अमित शक्ति और सार्थकता प्रदान की है। वस्तुतः श्रेष्ठ कविता का मुख्य संघर्ष अभ्युद्देशन से मुक्ति का संघर्ष है। कवि की अभिव्यंजना के सभी उपादेय वर्ग इसी संघर्ष की सफलता के प्रमाण होते हैं।

अभ्युद्देशन से मुक्ति का एक परिणाम तो यह भी है कि, जैसा कि रिचर्ड्स ने कहा है, श्रेष्ठ कविता में निश्चयात्मक उक्तियों का प्रायः अभाव रहता है। कोई भी निश्चयात्मक कथन अनिश्चित मात्रा तक दमन लाता है जो अनुभव की पूर्णता और अखंडता के लिए घातक होता है। इसलिए कविता के लिए निश्चयात्मक कथन प्रायः अनावश्यक होते हैं। रूप-वर्णन ही लिया जाये। कवि एक ही सादृश्य ढूँढ़ कर विराम नहीं लेता है। रूप की अप्रतिमता को देखकर जिस रागाधिक्य से वह उद्वेलित हो उठता है वह रागाधिक्य ही उसकी कल्पना को बहुस्पर्शिनी बना देता है। कल्पना ज्यों ही बहुस्पर्शिनी होने लगती है त्यों ही वह निश्चयात्मक उक्तियों से कतराने लगती है। यह सही है कि कवि अपनी उक्ति में प्रतिपन्नता लाने के लिए ही उपमानों की खोज करता है। किन्तु वस्तु की काष्ठाप्राप्ति के क्षण में उपमान उसके समग्र उत्कर्ष को व्यंजित करने में असमर्थ प्रमाणित होते हैं। तुलसीदास को सीता के रूप-वर्णन में उपमा देने में भय इस बात का होता है कि कहीं कुकवि होने का अपयश न उन्हें लग जाए। वह देखते हैं कि लोक में तो इतनी कमनीय युवती अन्य नहीं है। इसलिए सादृश्य की खोज वह इतरलोक में करते हैं। किन्तु, वहाँ भी कवि की समस्या सुलझ नहीं सकी। सरस्वती वाचाल हैं, भवानी अर्धदेही (अर्धनारीश्वर रूप के कारण) हैं, रति दुखित रहती है इसलिए कि उसका पति अतनु है। फिर रमा से भी सीता की उपमा कैसे दी जाये ? समुद्र से उत्पन्न होने के कारण विष और वारुणी उनके प्रिय बंधु हैं। इसलिए कवि इतरलोक से भी परे एक संभावना की कल्पना कर लेता है कि यदि अमृत का कोई समुद्र हो, उसमें कोई परम रूपवान कच्छप हो, शोभा के रज्जु और स्वयं शृंगार का मेरु हो, कामदेव अपने कमल करों से उसका स्वयं मंथन करे और तब उससे अनंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुन्दरता की कोई लक्ष्मी उत्पन्न हो वह कहीं जाकर सीता के सौन्दर्य की समता प्राप्त कर सकती है। किन्तु वस्तु का उत्कर्ष ऐसा है कि तुलसीदास तब भी निश्चयात्मक कथन से विरत हो जाते हैं। वह तब भी संकोच के साथ ही, झिझक के साथ ही सीता से उसकी तुलना करते हैं।

सिय बरनिअ तेइ उपमा देई।
कुकबि कहाइ अजसु को लेई॥
जौं पटतरिअ तीय सम सीया।
जग अस जुबति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तन अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही।
कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
जौं छबि सुधा पयोनिधि होई।
परम रूप-मय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू।
मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥
(बालकाण्ड॥ २४७॥)

उसी प्रकार दिनकर द्वारा स्वच्छ कौमुदी में उतरती हुई अप्सराओं का चित्रण भी अनिश्चय से मुक्त नहीं हो पाता है। दिनकर लिखते हैं;

उगी कौन-सी विभा; इन्द्र की किरणें लगीं लजाने
ज्योत्स्ना पर यह कौन अपर ज्योत्स्ना छायी जाती है?
कलकल करती हुई सलिल-सी गाती, धूम मचाती
अम्बर से ये कौन कनक-प्रतिमाएँ उतर रही हैं?
उड़ी आ रहीं छूट कुसुम-वल्लियाँ कल्प-कानन से?
या देवों की वीणा की रागिनियाँ भटक गई हैं?
उतर रही हैं ये नूतन पंक्तियाँ किसी कविता की
नयी अर्चियों-सी समाधि के झिलमिल अंधियाले में?
या वसन्त के सपनों की तस्वीरें घूम रही हैं
तारों-भरे गगन में फूलों-भरी धरा के भ्रम से?

यहाँ कोई भी एक उपमान अप्सराओं के रूप का समग्र व्यंजक नहीं बन सकता है। अतएव एक सादृश्य को रौंदता हुआ दूसरा सादृश्य आ जाता है। इस पर भी कवि जो कहना चाहता है उसका कथन पूरा नहीं हो पाता है। निश्चयात्मक उक्तियों से श्रेष्ठ कवियों की विरति का यही कारण है।

रागात्मक भाषा कविता में ही आकर अपनी काष्ठा-प्राप्ति करती है। इसमें अभ्युद्देशन अभिवृत्तियों के अधीनस्थ हो जाता है। रिचर्ड्स निर्भ्रान्ति रूप से प्रतिपादित करते हैं कि शुरू-शुरू में सभी भाषाएँ रागात्मक ही थीं पर उनका वैज्ञानिक प्रयोग परवर्ती विकास है। तब भी यह परवर्ती विकास सामान्य और नैसर्गिक प्रयोग जैसा दीखता है। रिचर्ड्स ने कारण बतलाते हुए कहा है कि जिन लोगों ने इस पर विचार किया है वे लोग विचार के क्षणों में इसका वैज्ञानिक उपयोग कर रहे थे। भाषा की असली महिमा तो काव्य में ही बिखरती है। यहाँ अंगरेज कवि डन की यह सूक्ति याद आती है कि घोड़े की पूँछ के बालों की तरह वाक्य धर्मग्रन्थों (Scriptures) में सौन्दर्य और शक्ति के एक मूल से आबद्ध होते हैं किन्तु यदि उन्हें एक-एक कर उखाड़ लिया जाए तो वे केवल फन्दे बनाने का ही काम दे सकते हैं। डन की यह सूक्ति धर्मग्रन्थों से कहीं अधिक काव्य के सम्बन्ध में सच है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शास्त्रभाषा भाषा के नंदतिक तत्त्वों से पूरी तरह मुक्त हो जाती है। यह पार्थक्य सापेक्ष ही है। राजशेखर ने यह लक्ष्य किया था कि काव्य का विधायक तत्त्व अर्थवाद है। शास्त्र और लोक में भी अर्थवाद के जो उदाहरण मिलते हैं वे काव्य के ही उदाहरण हैं। इससे यह प्रमाणित है कि अर्थवाद—भाषा का रागात्मक अर्थ व आलंकारिक प्रयोग—अत्यन्त व्यापक तत्त्व है। यह भाषा की सार्वजनीन विशेषता है। गोल्डबर्ग के अनुसार वर्णमाला के अक्षरों की तरह गणित के प्रतीक भी अमूर्त्त और शिलीभूत बिम्ब हैं। उसी प्रकार गणित के सूत्रों में शब्दों के प्रवाह पर उच्छ्वसित होकर स्काट बकानन ने कहा है कि एक कविता में शब्दों का विन्यास और किसी सूत्र में शब्दों का प्रवाह पक्षियों की उड़ान, खिड़की के शीशे पर की चित्रकारी अथवा आकाश में चंद्रमा और तारों की गति के समान ही गुणों और मूल्यों का सृजन करता है। प्रसिद्ध अमरीकी कवयित्री एडना सेंट विंसेंट मिले ने गाया है कि केवल यूक्लिड ने ही नग्न सौंदर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रत्यक्षीकरण किया है।

रिचर्ड्स ने भी यह स्वीकार किया है कि वैज्ञानिक भाषा राग से पूरी तरह मुक्त नहीं होती है। साधारणतः देखने में भी यह आता है कि आलंकारिक तत्त्व भाषा का सर्वव्यापक सिद्धान्त है। विज्ञान की प्रतिपन्न भाषा में भी हम इससे बड़ी कठिनाई से ही मुक्ति पाते हैं। सौंदर्य शास्त्र, राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान तथा भाषाशास्त्र आदि अर्धपारिभाषिक विषयों में हमारी मुख्य कठिनाई यह रहती है कि हम कैसे इसका प्रयोग कर रहे हैं और किस प्रकार हमारे तथाकथित शब्द जगह-जगह अपना अभिप्राय बदलते जाते हैं। वास्तविक कठिनाई तो दर्शनशास्त्र में होती है जहाँ हम एक कदम भी निरापद रूप से तब तक नहीं उठा पाते जब तक कि हम अपने और अपने श्रोता समुदाय द्वारा प्रयुक्त होने वाले उपमा-रूपकों के प्रति अनवरत रूप से जागरूक नहीं हों। हम उन रागात्मक तत्त्वों से मुक्ति पाने का दम भर सकते हैं किन्तु हम उन्हें ढूँढ़ कर ही उनसे मुक्ति पा सकते हैं। और दर्शन जितना ही कठोर और अमूर्त्त होगा, यह बात भी उतनी ही सच होगी।...और दर्शनशास्त्र में आप इसे इसकी परिभाषा ही मान लीजिए, मैं ब्रैडले से सहमत हूँ कि इस विद्या में बिना सादृश्य की भाषा के काम चला लेना व्यर्थ का दम भरना है। रिचर्ड्स का यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है कि अर्धपारिभाषिक विषयों में भी शब्दों के अभिप्राय जगह-जगह बदलते रहते हैं। शास्त्रभाषा की अपनी खूबियाँ होती हैं। ज्ञान के रूप में तो उनका मूल्य है ही, साथ ही शब्दों के जादू से मुक्ति, स्वप्न और धूमिल संबुद्धि से मुक्ति और पौराणिक फैंटेसी आदि से मुक्ति उनका विशिष्ट आध्यात्मिक पक्ष भी है। पर तब भी शास्त्रों की भाषा का अभिप्राय बदल जाता है। सामान्य रूप से इस सिद्धान्त के सही होने पर भी एक ही वस्तु के लिए सर्वत्र एक ही शब्द का व्यवहार नहीं होता। अपने परिवर्तन में यह किसी सातत्य का भी अनुगामी नहीं है। कहना न होगा कि ऐसा भाषा के आध्यात्मिक और रागात्मक सिद्धान्त की सतत गतिशीलता के कारण ही होता है।

अतएव शास्त्र और काव्य का पृथक्करण बहुत दूर तक सापेक्ष है। कदाचित राजशेखर ने इस बात को समझा था। इसलिए उन्होंने कवियों के तीन प्रकार बतलाये, यथा—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभयकवि। वह कहते हैं कि शास्त्रकवि शास्त्रीय गंभीरता के कारण उत्तम रस, ध्वनि आदि के द्वारा काव्य में रस-सम्पत्ति की शोभा बढ़ाता है और काव्यकवि, तर्क-कर्कश शास्त्रीय जटिल विषयों को अपनी सुकुमार कलाकृति से सरस एवं सुन्दर बना देता है। उभय-कवि दोनों विषयों में सिद्धहस्त होने के कारण वास्तव में दोनों से श्रेष्ठ होता है। अतः राजशेखर के अनुसार शास्त्रकवि और काव्यकवि दोनों परस्पर समान स्थान प्राप्त करते हैं। शायद उनका अभिप्राय यह है कि कवि-प्रतिभा शास्त्र और काव्य दोनों का निर्माण कर सकती है अथवा दोनों का संयोग उपस्थित कर सकती है। लगता है कि राजशेखर अपने सिद्धान्त की व्याख्या में दोनों कवियों को समान स्थान देकर अतिवाद पर चले गए हैं। यह तो ठीक है कि बौद्धिक और संबुद्धिपरक पक्ष अध्यात्म के ही भेद हैं। इसलिए नंदतिक दृष्टि से काव्य और विज्ञान मिल सकते हैं। किन्तु जब बुद्धि के व्यापार कल्पना के विषय हो जाते हैं तब वैज्ञानिक कृति भी कलाकृति में ही रूपान्तरित हो जाती है।

सामान्य व्यवहार की भाषा

वक्रत्व की दूसरी बाधा है बोलचाल की भाषा। कुन्तक के प्रसिद्ध से तात्पर्य यदि एक ओर शास्त्र में प्रयुक्त शब्द हैं तो दूसरी ओर उससे तात्पर्य लोक में प्रयुक्त सामान्य व्यवहार के शब्दों से भी है। उन्होंने स्वयं दो स्थलों पर इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है:

(१) 'वक्राः प्रसिद्धव्यवहारव्यतिरेकिणः।'

(२) 'अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहार सरणि।'

यानी वक्र प्रचलित व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्दों से किंचित् भिन्न है। इस प्रकार कुन्तक स्पष्ट रूप से प्रसिद्ध व्यवहारसरणि को अतिक्रांत कर जाने वाली भाषा को ही वक्रोक्ति मानते हैं! भामह ने काव्यालंकार के छठे परिच्छेद में ऐसा संकेत किया है कि दैनिक व्यवहार में आनेवाले और काव्य में उपयोज्य होने वाले शब्दों में अन्तर है। उन्होंने उन शब्दों के साधुत्व असाधुत्व पर भी विचार किया है जो काव्य में प्रयुक्त होने की योग्यता रखते हैं। भामह अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय मानते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसे 'लोकातिक्रान्तगोचर' कहते हैं। उनके अनुसार काव्य में शब्द का उपनिबन्धन लोकव्यवहार से भिन्न होता है। लोकोत्तर होना ही अतिशय का अभिप्राय है। भामह वक्रोक्तिहीन उक्ति को वार्ता कहते हैं। सूर्य अस्त हो गया; चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों में जा रहे हैं—जैसी उक्तियों में कौन-सा काव्य हो सकता है? भामह वार्ता का प्रयोग चमत्कारविहीन उक्ति के लिए करते हैं। इसमें साधारण बोलचाल की तरह शब्दार्थ का सामान्य प्रयोग होता हैं। वार्ता का किंचित और भी स्वच्छ विवेचन करते हुए आक्टेवियो पॉज ने लिखा है कि गद्य भाषा की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध स्थायी संघर्ष के ढाँचे में ही विकसित होता है और उसकी सबसे पूर्ण प्रजाति वार्त्ता और वर्णन है जिनमें लय और उनके अनवरत कम्पन का स्थान विचारों का गतिक्रम ले लेता है। भाषा, गद्य और काव्य तथा लय और वार्ता के बीच डोलती रहती हैं। विलक्षण बात तो यह है कि आक्टेवियो पॉज का यह विश्लेषण हेमचन्द्र के विश्लेषण से मिलता-जुलता है। उन्होंने दण्डी के कांति गुण पर विचार करते हुए उसे 'लोकसीमानतिक्रम' कहा है और वार्ता एवं वर्णन उसके दो प्रकार बतलाये हैं। औपचारिक वचन वार्ता है—'तत्रोपचार वचनं वार्ता।' प्रशंसावचन वर्णन है—'प्रशंसावचनं वर्णना।' इस तरह वार्ता उपचार वचन होने के कारण लोकसीमा का अतिक्रम नहीं कर पाती है।

इस लोकातिक्रांतता के मनोविज्ञान पर पंडितों ने विचार किया है। पहला कारण यह है कि सामान्य व्यवहार की भाषा अतिप्रयोग के कारण क्षुद्र बन जाती है। एडिसन के अनुसार ज्यादातर होता यह है कि अत्यंत प्रचलित मुहावरे जो सामान्य बातचीत में प्रयुक्त होते रहते हैं, हमारे कानों के लिए अतिअभ्यस्त हो जाते हैं और गँवार लोगों के द्वारा बोले जाने के कारण क्षुद्र बन जाते हैं। इसलिए कवि को अतिप्रचलित मुहावरे में बोलना चाहिए। एडिसन इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि महान् रचयिता यह बहुत अच्छी तरह जानता है कि कई-एक ललित मुहावरे अति प्रयोग से घिसपिट जाने पर क्षुद्र बन जाते हैं और कवि अथवा वक्ता के काम के नहीं रह जाते हैं। अतएव मृतभाषा में लिखी प्राचीन कवियों की रचनाएँ उनसे ज्यादा उपयोगी हैं जो समकालीन बोलचाल की भाषा में लिखी जाती हैं। दान्ते के अनुसार जो लोग बोलचाल की भाषा में काव्य लिखना चाहते हैं उन्हें घिसेपिटे शब्दों को परम्परामुक्तता के कारण त्याग देना चाहिए। बेनजानसन ने 'कभी कभी स्वाद बदलने के लिए' कह कर इसके मनोविज्ञान को और भी स्पष्ट किया है।

दूसरा कारण हैं ग्राम्यता। ग्राम्य शब्द प्रसिद्धि-मात्र प्रमाण के आश्रित होते हैं। ऐसे शब्दों के प्रयोग से सौंदर्यानुभूति भ्रष्ट हो जाती है। संस्कृत के आचार्यों ने ग्राम्य को परिभाषित करते हुए बताया है कि जो पद केवल लोक में ही प्रचलित हो वह ग्राम्य है। वामन के अनुसार: "लोकप्रयुक्त मात्रं ग्राम्यम्।" अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि प्रसिद्ध मात्र प्रमाण के आश्रित वस्तु का यथावत् वर्णन करने वाली आयोजित रचना-विशेष ही ग्राम्य है। यहाँ अभिनवगुप्त 'प्रसिद्धिमात्र-प्रमाण' के द्वारा कुन्तक के 'प्रसिद्ध-व्यवहारसरणि' की ही प्रतिध्वनि करते हैं। सच तो यह है कि ग्राम्यत्व का सम्बन्ध अनौचित्य से है। रुद्रट ने 'काव्यालंकार' के एकादश अध्याय में ग्राम्यत्व पर विचार करते हुए बतलाया है कि कुल, जाति, विद्या, वित्त, आयु, स्थान और पात्र इन आठों विषयों में व्यवहार, आकार, वेश और वचन का अनौचित्य ग्राम्य कहाता है।

दान्ते ने बतलाया है कि ग्राम्य शब्द अनगढ़ और भद्दे होते हैं। अतएव वे संप्रेषण के उपयुक्त वाहक नहीं बन पाते हैं। उनका मुख्य दोष, जैसा कि अग्निपुराण के रचयिता ने संकेतित किया हैं, यह है कि उनसे जघन्य अर्थात् जुगुप्सित अर्थ का आभास होता है—"ग्राम्यता तु जघन्यार्थप्रतिपत्तिः खलीकृता।' इस तरह ग्राम्य भाषा सौंदर्यानुभूति का बाधक सिद्ध होती है।

तीसरा कारण है साधारण शब्दों की सपाटता। सामान्य बोलचाल की भाषा सपाट और स्पष्ट होती है। भोज ध्वनि को काव्य का व्यवच्छेदक तत्त्व इसलिए नहीं मानते हैं कि ध्वनि तात्पर्य ही है जो कि सामान्य बोलचाल में भी रहता है। इसलिए वचन चाहे शास्त्र में हो या लोक में वह वचनमात्र है—'यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।' इस सपाटता के कारण मात्र वचन काव्य में अनेक अर्थ फेंक नहीं सकता है। काव्य का आकर्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंचित् संगोपन में है। हमारे यहाँ 'कवि, ग्रक्षर, कुच केश' वाली सूक्ति प्रसिद्ध ही है। दिनकर की उर्वशी पुरुरवा से कहती है :

स्पष्ट शब्द मत चुनो, चुनो उनको जो धुँधियाले हैं,
ये धुंधले ही शब्द ऋचाओं में प्रवेश पाने पर
एक साथ जोड़ते ग्रनिश्चित को निश्चित ग्राशय से।

काव्यभाषा की यह बड़ी सटीक व्याख्या है। कवि का लक्ष्य दृश्य को ग्रदृश्य से जोड़ना होता है। ग्रतः शब्द यहाँ ग्रसमर्थ सिद्ध होते हैं। इसलिए भोज ने 'वक्रं यथार्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः' कहा। जो बात दिनकर की उर्वशी कहती है, वही बात बेनजॉनसन भी कहते हैं। उन्होंने 'डिस्कवरीज' में यह प्रश्न उठाया है कि मनुष्य क्यों बोलचाल के नैसर्गिक ग्रौर सही रास्ते से विलग हो जाता है। प्रश्न का समाधान देते हुए उन्होंने कहा कि कभी तो ग्रावश्यकता से प्रेरित होकर हम धूमिल शब्दों में बोलना पसंद करते हैं ग्रौर कभी इस परिस्थिति से विवश होकर कि स्पष्टोक्ति से लक्ष्यीभूत श्रोता को क्लेश होगा।

चौथा ग्रौर सबसे महत्वपूर्ण कारण है ग्रसामान्य का ग्राकर्षण ग्रौर मनःप्रसादन। ग्रसामान्य की व्याख्या करते हुए ग्ररस्तू ने लिखा है : ग्रसामान्य से मेरा ग्रभिप्राय है ग्रपरिचित, ग्रौपचारिक, व्याकुचित ग्रादि का—संक्षेप में उन शब्दों का जो साधारण मुहावरों से भिन्न हों। इस ग्रसामान्य के मनोविज्ञान को ग्ररस्तू ने ग्रपने 'भाषणशास्त्र' में भी स्पष्ट किया ग्रौर कहा कि "प्रचलित प्रयोगों से भिन्नता भाषा को एक प्रकार की गरिमा प्रदान करती है क्योंकि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों से ग्रथवा नागरिकों से। इसलिए भाषा में वैचित्र्य का रंग देना चाहिए। यह इस कारण भी कि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है ग्रौर जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है।"[1] ग्ररस्तू के कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रसाधारण में मनःप्रसादन की क्षमता है। असाधारण के आकर्षण के ही कारण कवि सामान्य मार्गों का परित्याग करता है।

संस्कृत के ग्राचार्यों ने कविकर्म की परीक्षा की सबसे ऊँची ग्रदालत 'सहृदय' को ही माना है। सहृदय का मनःप्रसादन मुख्य शर्त है। जिस भाषा से सहृदय का मनःप्रसादन नहीं होता है वह त्याज्य है। ग्ररस्तू भी ग्रसामान्य शब्दों की सीमाओं से परिचित हैं ग्रौर उन्हें इस बात का भी पता है कि इसमें ग्रतिवाद पर पहुँचने से वागाडम्बर का जन्म होता है। उन्होंने बताया कि जिस शैली में केवल ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया गया हो वह या तो प्रहेलिका होगी या शब्द-जाल—यदि केवल ग्रौपचारिक शब्दों का प्रयोग किया गया हो तो वह प्रहेलिका ग्रौर यदि केवल ग्रपरिचित शब्द आये हों तो शब्दजाल की स्थिति होगी।[2] लोंगिनुस ने भी लिखा है कि रुचिविहीन वाग-स्फीति ग्रक्षम्य है।[3] ग्रसामान्य मार्ग पर संचरण करने के संकट को लोंगिनुस ने साफ़-साफ़ लक्ष्य किया है। "इसका कारण यही है कि औदार्यकामी लेखक सदा क्षीणता ग्रौर शुष्कता के ग्रारोप से बचने की ग्रातुरता में, मानो किसी विचित्र प्राकृतिक नियम के कारण, दूसरे ही छोर पर पहुँच जाते हैं।...... किन्तु शोथ चाहे शरीर का हो ग्रथवा भाषा का वह सदा दोष ही माना जायेगा क्योंकि वह ग्रवास्तविक एवं स्फीतिमय होता है ग्रौर उससे ग्रपने उद्देश्य के प्रतिकूल परिणाम की ग्राशंका रहती है। किसी ने ठीक ही कहा है कि जलोदर रोग से पीड़ित मनुष्य की ग्रपेक्षा ग्रधिक शुष्कता ग्रौर कहीं नहीं पायी जाती।"[4] लोंगिनुस यह महसूस कर रहे थे कि सामान्य व्यवहार की भाषा से हटने में कवि जब ग्रतिवाद पर चला जाता है तब वह वागाडम्बर से युक्त जड़ ग्रौर निष्प्राण भाषा लिखता है। लेकिन प्रत्येक श्रेष्ठ कवि को जड़, निष्प्राण तथा ग्रनैसर्गिक भाषा से बचना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए एडिसन लिखते हैं कि कवि के विवेक का एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि वह ग्रपनी भाषा-शैली में सामान्य मार्गों का त्याग करे किन्तु साथ ही उसे जड़ तथा ग्रप्राकृतिक भी न होने दे।[5]

---

1. Rhetoric and poetics. The Modern Library, NewYork : P. 167.
2. ग्ररस्तू का काव्यशास्त्र : पृ० ५८
3. काव्य में उदात्त तत्त्व : पृ० ४६
4. वही : पृ० ४७
5. Selected Critical Essays XVI-XVIII Centuries : Oxford University Press : P 300.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक श्रेष्ठ कवियों ने यह नारा दिया है कि शुद्ध कविता बोलचाल के सरलतम शब्दों में लिखी जा सकती है। कविता और बोलचाल की भाषा एक हो, इस आन्दोलन का प्रारंभ ग्रीक नाटककार यूरीपाइड्स (४८५-४०६ ई० पू०) ने किया था। उसके समय में परंपरामुक्त मत यह था कि दैनंदिन जीवन की भाषा कविता की भाषा नहीं हो सकती। किन्तु यूरोपाइड्स नयी राह का अन्वेषक था। उसने अपने नाटकों में परंपराभुक्त नैतिकता, धर्म और नारियों के प्रति रूढ़ दृष्टि की आलोचना की। उसने अपने पात्रों को आधुनिक ढंग (उसके समय का आधुनिक बोध) से सोचने की दिशा दी और उसने सामान्य व्यवहार की यथार्थवादी भाषा का उपयोग किया। ठीक इसके विपरीत उसका किंचित् परवर्ती समकालीन नाटककार एरिस्टोफेन्स (४४५-३८५ ई० पू०) परम्परावादी था। उसने अपने एक पात्र एसकाइलस से कहलाया है कि कवियों को महान विषयवस्तु और महान भावनाओं को चुनना चाहिए जिनसे कि भाषा ऐश्वर्यशालिनी बनती है। एरिस्टोफेन्स ने अपने नाटकों में यूरीपाइड्स की इस विद्रोही दृष्टि के लिए उसका उपहास किया है। एरिस्टोफेन्स के एक नाटक में यूरीपाइड्स कहता है कि हमें कम से कम मनुष्य की भाषा का उपयोग तो करना ही चाहिए। अवश्य ही एरिस्टोफेन्स ने उपहास की मुद्रा में यूरीपाइड्स से यहँ कहलाया है। किन्तु यूरीपाइड्स की भाषा-दृष्टि सचमुच में यही है। इस प्रकार यूरीपाइड्स ने अपने नाटकों में समकालीन जीवन को मथने वाली समस्याओं का वर्णन दैनंदिन जीवन की भाषा में ही किया। ऐसा अनुमेय है कि बाद में वर्डस्वर्थ ने यूरीपाइड्स के उपरिउद्धृत कथन से ही प्रेरणा ग्रहण कर 'मनुष्य की वास्तविक भाषा' (real language of men) का सिद्धान्त गढ़ा।

अभिजात और पंडिताऊ भाषा के विरुद्ध दूसरा प्रबल विद्रोह इतालवी महाकवि दान्ते (१२६५-१३२१ ई०) ने किया। उन्होंने रीतिबद्ध लातीन के विरोध में 'उज्ज्वल जनवाणी' इटालियन की प्रतिष्ठा की। दान्ते में कारयित्री प्रतिभा के साथ भावयित्री प्रतिभा का अद्भुत संयोग उपस्थित हुआ। 'डी वलोरी इलोक्वेनसिया' नामक समीक्षा-पुस्तक में उन्होंने अपने विचारों को विलक्षण शक्ति से स्थापित किया। उन्होंने आस्थासहित घोषित किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को जो पद्य लिखता है, यथासाध्य अपने पद्य को विभूषित करना चाहिए। उन्होंने यह भी प्रस्ताव किया कि 'उज्ज्वल जनवाणी' से बढ़कर पद्य का दूसरा कोई विभूषण नहीं है, इसलिए प्रत्येक पद्य-लेखक को इसका उपयोग करना चाहिए।[1] अवश्य ही दान्ते अपने युग की तुलना में काफी अशास्त्रीय रहे होंगे।

अंग्रेजी कविता में इस आंदोलन का प्रारम्भ वर्डस्वर्थ ने किया। वर्डस्वर्थ और उनके मुख्य सहयोगियों ने मिल्टन की अभिजात अंग्रेजी को महत्व न दे कर नई उष्मा प्राप्त करने के लिए बोलचाल की भाषा को ही कविता में आत्मसात् करने की कोशिश की। जब एलियट यह लिखते हैं कि मिल्टन ने अंग्रेजी मृतभाषा की भाँति लिखी थी, तब प्रकारान्तर से वह वर्डस्वर्थ की प्रतिक्रिया को ही आलोचना की शब्दावली दे देते हैं। अपने 'लिरिकल बैलेड्स' में संगृहीत कविताओं में वर्डस्वर्थ ने आलंकारिक अंग्रेजी से नाता तोड़ लिया है और ग्रामीण बोलचाल की भाषा को ही काव्य भाषा के रूप में स्वीकार किया। वर्डस्वर्थ का विद्रोह रीतिबद्ध भाषा के खिलाफ था। उन्होंने कहा कि वह 'मनुष्य की वास्तविक भाषा' का उपयोग करना चाहते हैं। शायद इसी कारण उनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ पैदा हो गई हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना होगा कि वर्डस्वर्थ जब 'मनुष्य की वास्तविक भाषा' की बात करते हैं तब उनका तात्पर्य यह नहीं होता कि कवि गँवारों की भाषा को तद्वत ग्रहण कर ले। वह अपनी कविताओं में सामान्य जीवन की घटनाओं और स्थितियों का वर्णन करना और यथासंभव मनुष्य द्वारा वास्तव में व्यवहृत भाषा का चयन कर यह कार्य सम्पादित करना चाहते थे।[2] किन्तु, इस 'चयन' वाली शर्त की उपेक्षा कर वर्डस्वर्थ के सिद्धान्त की मीमांसा के हम आदी हो गये हैं। वर्डस्वर्थ को इस 'चयन' से ही संतोष नहीं हुआ। काव्यभाषा की गरिमा से वह अपरिचित भी नहीं थे। इसलिए उन्होंने कहा कि कवि को मनुष्य की वास्त-

1. De Vulgari Eloquentia ; First Chapter : P. 44-5.

2 Selected Critical Essays; XIX Century : Oxford University Press : p. 4.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक भाषा पर कल्पना का रंग छिड़क देना चाहिए जिससे कि सामान्य वस्तु भी मन के सामने असामान्य परिप्रेक्ष्य में लायी जा सके। वर्डस्वर्थ ने आगे चल कर 'मनुष्य द्वारा व्यवहृत वास्तविक भाषा का चयन' की व्याख्या भी की है। उनका कहना है कि जब भी यह चयन सच्ची रुचि और संवेदनशीलता के साथ किया जाता है, तब वह स्वयं कल्पनातीत विशिष्टता प्राप्त कर लेता है और फलतः रचना दैनंदिन जीवन की ग्राम्यता और क्षुद्रता से बच निकलती है।[1] वर्डस्वर्थ इसको और भी बोधगम्य बनाते हुए लिखते हैं कि यदि बुद्धिमत्ता और सचाई से भाषा का चयन किया जाय तो वह अवश्यमेव गरिमायुक्त और चित्रविचित्र तथा अलंकारों से जीवंत होगी।

इसलिए हमारी राय में वर्डस्वर्थ अवक्र भाषा की संस्तुति नहीं कर रहे थे। उन्होंने वचन मात्र को अपनी काव्यभाषा का आधार नहीं बनाया था। 'कल्पना का रंग छिड़कने' की बात कह कर वह वस्तुतः अर्थवाद की महिमा की ओर ही इंगित कर रहे थे। किन्तु अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं जिनसे भ्रांतियाँ उत्पन्न हुईं : उन्होंने बतलाया कि सामान्यतया 'गँवार और आडंबरहीन जीवन को' वह अपनी वस्तु के रूप में चुनते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से वह एक जगह 'मनुष्य को वास्तविक भाषा का अनुकरण' भी लिख गए हैं। किन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह अपने युग में परम्परा के दुर्ग पर एकाएक आक्रमण कर बैठे थे और इसीलिए उनका विरोध बड़े ही जोरशोर से हुआ।

वर्डस्वर्थ के मुख्य सहयोगी कालरिज ने ही अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' में उनका खंडन जम कर किया। वर्डस्वर्थ द्वारा प्रयुक्त 'मनुष्य की वास्तविक भाषा' का खंडन करते हुए वह लिखते हैं : मेरा पहला आक्षेप तो यह है कि यह नियम केवल कुछ प्रकार की कविताओंके ही अनुकूल है। दूसरा आक्षेप यह है कि जिस सीमा तक यह सिद्धान्त किसी के द्वारा अस्वीकृत नहीं किया गया है, बस वहीं तक, उससे आगे इस प्रकार की कविताओं के भी यह अनुकूल नहीं है। तीसरा और अन्तिम आक्षेप यह है कि जिस दूरी तक यह सिद्धान्त व्यावहारिक है उस दूरी तक भी यदि वह हानिप्रद न भी हो तो बेकार तो है ही। इसलिए इसका व्यवहार नहीं होना चाहिए।[2] वर्डस्वर्थ ने कहा था कि वह गंवार तथा निम्नवर्ग के लोगों की भाषा का अनुकरण करना चाहते हैं। उनके इस विचार का भी कॉलरिज ने तिरस्कार किया और कहा कि यदि उनका (कॉलरिज का) अपना तथा उन प्रतिष्ठित ग्रामीण पादरियों का जिनके साथ उन्होंने विचार, किया था अनुभव गलत नहीं हो तो ग्राम्य और निम्न वर्ग के जीवन के वांछित प्रभाव के सम्बन्ध में अत्यधिक संदेह का अवसर मिल जाता है।[3] कॉलरिज आगे कहते हैं कि वे इस दावे से भी उतने ही असहमत हैं कि जिन वस्तुओं के साथ गँवारों का संप्रेषण होता है उन्हीं से भाषा के अंग का निर्माण भी होता है। कॉलरिज ने वर्डस्वर्थ के वास्तविक शब्द की भी आलोचना की। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की भाषा उसके ज्ञान के प्रसार, मानसिक शक्तियों के व्यापार तथा उसकी अनुभूतियों की गहराई अथवा त्वरा के कारण भी परिवर्तित होती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी भाषा होती है जो वैयक्तिक वर्गगत, और सार्वजनीन तत्वों से युक्त होती है। अतएव 'वास्तविक' के स्थान पर 'साधारण' शब्द का प्रयोग अधिक ठीक समझना चाहिए।

वर्डस्वर्थ कदाचित् प्रत्येक मौलिक और क्रांतिकारी चिंतक की तरह बहुत कुछ अतिवाद की सीमा तक चले गये थे। पर उनके खंडन के उत्साह के अतिरेक में कालरिज भी अतिवाद से बच नहीं सके। वर्डस्वर्थ का खंडन करते हुए कॉलरिज ने उनके विषय में बतलाया है कि समसामयिक कवियों के वागाडम्बर से क्षुब्ध होकर उन्होंने अपने दृष्टिकोण को थोड़ा संकुचित कर लिया था। यह बात तो ठीक है लेकिन आक्षेप गलत है और अकारण भी। कालरिज ने वर्डस्वर्थ के 'वास्तविक' (real) पर तो उतनी विचिकित्सा की है, किन्तु उन्होंने 'चयन' (selection) की पूरी उपेक्षा कर दी। वर्डस्वर्थ 'कल्पना का रंग छिड़कने' की बात कह अर्थवाद की गरिमा का ही प्रतिपादन कर रहे थे। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने यह

---

1 Selected Critical Essays, XIX Century : P. 4.

2 Biographic Literaria; George Bell and Sons 1898, Chapter XVII :p: 162

3 Ibid : p : 164.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार किया कि कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो आवेग-प्रेरित होते और स्वयं उन्होंने उनका उसी रूप में प्रयोग किया है। इस प्रकार हमें तो वर्डस्वर्थ का रीतिबद्ध भाषा के वागाडम्बर के प्रत्याख्यान का प्रयास करना उचित ही दीखता है।

लेकिन यह एक तथ्य है कि सामान्य व्यवहार की भाषा का कोई आवेगात्मक प्रभाव नहीं होता। दैनंदिन जीवन की भाषा प्रबल आवेश को व्यक्त नहीं कर पाती व्यवहार की खोटी भाषा इतनी अप्रीतिकर होती है कि उससे संप्रेषण संभव नहीं होता। कवि का लक्ष्य अर्थ-संकेत नहीं प्रत्युत संप्रेषण होता है। संप्रेषण में ही सौंदर्यानुभूति का रहस्य छिपा हुआ रहता है। वर्डस्वर्थ के सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए दिनकर ने लिखा है कि "कविता की भाषा भी बोलचाल की भाषा हो, इस आन्दोलन का आरम्भ अंग्रेजी में वर्डस्वर्थ ने किया था और हिन्दी में कदाचित् स्वयं भारतेन्दु ने। किन्तु अब तक के प्रयोगों से काम पूरा नहीं हुआ। कविता बार-बार अपने लिए विशिष्ट भाषा उत्पन्न कर लेती है। फिर भी प्रयास जारी है कि कवि की भाषा सामान्य मनुष्य की भाषा से भिन्न नहीं हो।"[1] हमारा ख्याल है कि यह प्रयास कभी भी सफल नहीं होगा क्योंकि कविता का लोक दैनंदिन व्यवहार का लोक नहीं होता और दैनंदिन व्यवहार की भाषा से उसका काम ही नहीं चल सकता। इसलिए वर्डस्वर्थ ने भी 'चयन' की बात कही थी। हाँ, कविता की भाषा में प्राचीनतावाद अधिक होता है, इसलिए एक विशेष अन्तराल पर बोलचाल की भाषा से कुछ ग्रहण कर वह अपने को ताजा बना लेती है। पर यह भी एक खरी सचाई है कि वह वचन-मात्र होकर जी नहीं सकती। अंग्रेजी कवि ने बताया है कि युग की भाषा कभी भी कविता की भाषा नहीं होती।

तात्पर्य यह कि काव्यभाषा और बोलचाल की भाषा में घात-प्रतिघात चलता रहता है। राजशेखर ने यह लक्ष्य किया है कि लोकभाषा में भी अर्थवाद का उदाहरण काव्य का ही उदाहरण है। राजशेखर के कहने का आशय यह है कि लोकभाषा भी काव्य के तत्त्व से पूरी तरह रहित नहीं होती है। किन्तु बोलचाल की भाषा कविता में हू-ब-हू उठा नहीं ली जाती है। वर्डस्वर्थ की तरह दान्ते भी 'चयन' की महिमा को ही अपना निकष बनाते हैं। उनके अनुसार शब्दों के उपयुक्त चयन में विवेक की कम जरूरत नहीं पड़ती है क्योंकि बोलचाल में उपयोज्य शब्द भी असंख्य हैं। कुछ शब्द बचकाने होते हैं, कुछ स्त्रैण, कुछ पुरुष (manly): इनमें कुछ ग्राम्य और कुछ नागर होते हैं। नागर शब्दों में कुछ मसृण और चिक्कन होते हैं, कुछ रुक्ष और अतिचर्चित। इन शब्दों में मसृण और चिक्कन ही मुख्य शब्द होते हैं तथा रुक्ष और चर्चित खोखली आवाज़ भर करते हैं। दान्ते बल देकर कहते हैं कि जो लोग बोलचाल की ही भाषा में लिखना चाहते हैं उन्हें कुलीन शब्दों को चुनने के लिए विवेक की चलनी का उपयोग अवश्य करना चाहिए। उनका कहना है कि ऐसे चयन में बचकाने शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं रहता क्योंकि वे अति सरल होते हैं। स्त्रैण शब्द अति सुकुमारता के कारण, ग्राम्य शब्द अनगढ़पन और भद्दे पन के कारण और चर्चित शब्दों को घिसे-पिटे होने के कारण त्याग देना चाहिए। इस प्रकार केवल मसृण और चिक्कन शब्द ही काव्योपयुक्त ठहरते हैं।

कवि शब्द-चयन का यह कार्य चेतना की जाग्रति की उच्चतम स्थिति में करता है। एक भाव की खिड़की से शब्दों की कितनी ही फुहारें आती हैं किन्तु कवि किसी एक फुहार से ही अपनी भाषा को सींचता है। शब्दों को सूँघ कर परखने की शक्ति प्रतिभाशाली कवि में होनी ही चाहिए। इस अर्थ में समर्थ सिद्ध होने वाला कवि यह जानता है कि कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं होता है, हर शब्द की अपनी आत्मा होती है, अपना वातावरण होता है। कवि की प्रतिभा की पहचान इस बात से होती है कि भाव के उपयुक्त शब्द के चयन की क्षमता उसे है या नहीं, यही मुख्य चीज़ है।

कविता के प्रायः सभी नये आन्दोलन बोलचाल की भाषा के समीप आने के लिए होते हैं। यों, प्रत्येक नियम की तरह इसका भी अपवाद है। कोई भी कविता

१. अर्धनारीश्वर (प्र०सं०) : पृ० ६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकदम वही भाषा तो नहीं होती जो कवि बोलता है, पर उस भाषा से उसका सम्बन्ध दूर का भी नहीं होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा पर ही कवि अपने झरोखे और मेहराब बनाता है। उसकी विलक्षणता उपयुक्त चयन तथा ग्रहण किये जाने वाले शब्दों के क्रम में मुखर होती है। विशिष्ट क्रम ही काव्य की भाषा को सामान्य व्यवहार की भाषा से भिन्न करता है। इसीलिए प्रत्येक कविता का संगीत उस युग की बोलचाल की भाषा की कुक्षि से ही फूटता है। छायावादी भाषा का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से नहीं के बराबर है। यह बात बेतुकी लग सकती है, पर है सत्य कि छायावादी कवियों ने मृत भाषा में अपनी कविताएँ प्रस्तुत कीं। हमारे साहित्य के सहस्राधिक वर्षों के इतिहास में सबसे अधिक बनावटी भाषा का प्रयोग छायायुगीन कवियों ने ही किया। यदि उन्होंने छन्दों में भी हिन्दी की प्रकृति का ध्यान नहीं रखा होता, तो वह युग बड़ा भयंकर प्रमाणित होता। छायावादी छन्दों की कान्ति ने भाषा की सड़ाँध को बहुत हद तक छिपाया है। पहले भी हरिऔध ने प्रियप्रवास के द्वारा हिन्दी पाठकों को छन्द और भाषा दोनों क्षेत्रों में भटकाया था। इसका परिणाम हुआ कि हमारा भाषा सम्बन्धी आदर्श भ्रांत बना रहा। कहना नहीं होगा कि छायावादी कविता को जो लोकप्रियता नहीं मिली उसका सर्वाधिक मुख्य कारण यह रहा कि छायावादी कवियों ने जिस भाषा का उपयोग किया वह भाषा जीवंत नहीं थी, सहज नहीं थी; मृत थी, कृत्रिम थी।

इधर जॉन डैनियल नाम के ऑक्सफोर्ड के एक व्याख्याता ने लंदन की टेलीफोन डायरेक्टरी के पन्नों में कविता ढूंढ़ निकाली है।[1] 'स्मिथ जे० एल०' शीर्षक से यह कविता बी० बी० सी० से प्रसारित भी की गई। वस्तुतः यह कविता और कुछ नहीं, टेलीफोन निर्देशिका के बीस नाम थे जो पतों के साथ प्रसारित किये गए। एक आवाज नाम बोलती जाती थी और दूसरी आवाज पते बोलती थी। कहते हैं कि यह पाठ एक विलक्षण मंत्रोच्चारण की तरह लगा और प्रसारण में पर्याप्त सफलता भी मिली। आज यदि कविताओं में बोलचाल की भाषा के प्रयोग के आन्दोलन के प्रवर्तक वर्डस्वर्थ जीवित होते तो उन्हें भी अपने आन्दोलन की इस परिणति पर अचम्भा हुआ होता। निश्चय ही आज सारे संसार की नयी कविता में वैयक्तिक तत्त्व का जो प्लावन आ गया है, उस पर यह प्रयोग एक विडम्बना ही है। यदि यही हाल रहा तो आज के युग में निश्चय ही न्यूयार्क और लंदन जैसे नगरों की पृथुल टेलीफोन निर्देशिका ही इस युग के सबसे बड़े महाकाव्य सिद्ध होंगे और टेलीफोन के महानिदेशक हमारे युग के सबसे बड़े कवि। हमारे देश में प्रतिवर्ष एक-एक महाकाव्य प्रस्तुत करने का श्रेय कलकत्ता, बंबई और दिल्ली जैसे महानगरों को सहज ही प्राप्त हो जायेगा और तब पाकशास्त्र की पुस्तकों को भी कवित्वमय लहजे में पढ़ा जा सकेगा और संसद के व्याख्यान भी श्रेष्ठ कविता के उदाहरण माने जायेंगे।

यह बात सही है कि बोलचाल की भाषा में कविता प्रच्छन्न रहती है। भाषा जब रागपरक होने लगती है तब वह बोलचाल की भाषा से अधिक स्वच्छन्द शब्द विन्यास ग्रहण करती है। जब प्रबल आवेश का ह्रस्व दीर्घ से काम नहीं चलता है तब वह प्लुत का सहारा लेता है। इसलिए पुराने शब्द जब घिसपिट जाते हैं पंडिताऊ शब्द जब निष्प्राण बन जाते हैं, तब बोलचाल की भाषा से कवि कवित्व की ताजगी प्राप्त करता है। यह काम सरहपा और विद्यापति ने किया था, यही काम कबीर, सूर और तुलसी ने किया। कबीर का 'भाखा बहता नीर' कहना तथा तुलसीदास का 'भाषानिबंधमति मंजुल' रामचरितमानस लिखना इसी बात का प्रमाण है।

अवश्य ही ऑक्सफोर्ड के जिस व्याख्याता ने टेलीफोन की निर्देशिका के नामों और पतों का रेडियो पर मंत्रोच्चार की तरह प्रसारण किया, वह कविता और पाठ की कला को भ्रमवश एक समझ रहा था। हमारे देश में सदा पाठ की कला को कविता से भिन्न समझा गया है। पाठ एक कला है, वह स्वयं कविता नहीं है। कभी-कभी घटिया किस्म का कवि भी अच्छे पाठ के द्वारा श्रोता को मुग्ध कर लेता है, किन्तु उसकी

1. विशेष विवरण के लिए १३ मार्च, १९६७ के दैनिक 'स्टेट्समैन' (डाक संस्करण) की संपादकीय टिप्पणी देखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफलता कविता की नहीं, कंठ की होती है। अब, जब कि सारे संसार में कविता से सस्वर पाठ का लोप हो रहा है, कंठ के माधुर्य का सहारा लेकर भ्रांति उत्पन्न करना प्रतिगामी बनना है। हमारे देश में ऐसे लोग हैं जो 'गोदान' को भी कविता की तरह सस्वर पढ़ लेते हैं, किन्तु श्रोता उनके कंठ की जब तारीफ करते हैं, तब उन्हें यह भ्रांति तो नहीं होती कि 'गोदान' भी काव्य ही है। अवश्य ही यह एक अच्छी बात है।

सारांश यह कि बोलचाल की खोटी भाषा कविता नहीं होती है। जब यह वचन-मात्र, जैसा कि भोज ने कहा है, अर्थवाद आदि से युक्त होकर वक्रत्व प्राप्त कर लेता है तब वह काव्य हो जाता है।

गद्य की भाषा

इसी क्रम में अब हम काव्य और गद्य के पार्थक्य पर भी संक्षेप में विचार कर लें। रिचर्ड्स ने कहा है कि काव्य और गद्य का पार्थक्य केवल एकेडेमिक व्यापार नहीं है। गणित से परे कोई ऐसी समस्या नहीं है जो निरी उपेक्षा के कारण जटिल न हो गई हो और न ऐसी कोई रागात्मक अनुक्रिया है जो असंगत तत्त्वों के बलात् प्रवेश से पंगु न बन गयी हो। इन दोनों के पार्थक्य के प्रचुर अन्तर के अध्ययन से उत्पन्न होने वाली क्रांति से बढ़ कर मानवीय व्यापार के क्षेत्र में दूसरी कोई क्रांति नहीं हो सकती है। किन्तु, रिचर्ड्स के ठीक विपरीत संस्कृत के आचार्यों के बीच काव्य की आत्मा को लेकर चाहे जो भी और जितना मतभेद हो, काव्य और गद्य के पार्थक्य के प्रश्न पर उनके बीच कोई विवाद नहीं है। वे यह नहीं मानते कि काव्य और गद्य का अन्तर—छन्द जैसे किसी बहिरंग उपादान को लेकर है। संस्कृत के किसी भी मुख्य काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में छन्दों पर विचार तक नहीं किया गया है। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—यह बहुप्रचलित सूक्ति है। हमारे प्राचीन आचार्यों के अनुसार गद्य काव्य की ही एक प्रजाति है। भामह ने गद्य और पद्य को काव्य का भेद कहा है—'गद्यं पद्यं च तत् द्विधा।' दण्डी ने काव्य के तीन भेद माने हैं—गद्य, पद्य और मिश्र।[1] भारतीय आचार्यों में यही दृष्टि प्रचलित रही।

किन्तु व्यावहारिक विवेचन में ये आचार्य सब जगह इसी दृष्टि से अनुशासित नहीं रहे। डॉ० सुशीलकुमार दे ने बताया है कि इन आचार्यों ने जब अभिव्यंजना के तथ्यों के कथा, आख्यायिका, महाकाव्य, गीतकाव्य और नाटक आदि परम्पराभुक्त वर्गीकरण को उसी रूप में स्वीकार कर लिया और उनके लिए नियमों का निर्देश किया तब यह कहा जा सकता है कि इन आचार्यों ने अभिव्यंजना की अन्तरंगता के विचार-सूत्र का व्यावहारिक उपयोग नहीं किया।[2] डॉ० दे ने अभिव्यंजना की अन्तरंगता को स्पष्ट करते हुए लिखा है: "किसी प्रेरणाविशेष के स्वरूप के अनुसार कोई कवि गद्य अथवा पद्य में अपनी अभिव्यंजना कर सकता है। एक में उसकी बुद्धि की प्रधानता होती है और दूसरे में उसकी भावना का प्राधान्य रहता है, किन्तु चूँकि आध्यात्मिक व्यापार का एक पक्ष दूसरे पक्ष में रूपान्तरित हो सकता है, इसलिए सभी गद्य का काव्यात्मक पक्ष भी होता है।"[3] भले ही व्यावहारिक उपयोग में इन आचार्यों ने परम्पराभुक्त वर्गीकरण की पुराणरीति का व्यतिक्रम न किया हो, किन्तु उन्हें काव्य की अभिव्यंजना के वास्तविक स्वरूप की सच्ची पहचान अवश्य थी।

इस बात से भी प्रकट है कि काव्य के विषय में गंभीरतापूर्वक विचार करने वाले इन आचार्यों ने शायद ही कहीं छन्द को अपना निकष बनाया हो। यह दूसरी बात है कि ऐतिहासिक कारणों से कविता अधिकतर छन्दोबद्ध ही रही है। छन्दोबद्ध रचनाओं के लिए पद्य और छन्दमुक्त रचनाओं के लिए गद्य नाम व्यवहार में चलता आया है। पद्य और गद्य का अन्तर सीधा और स्पष्ट है किन्तु यही बात काव्य और गद्य के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। प्रायः सर्वत्र काव्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में छन्दोबद्ध रहा है। यहाँ छन्दोबद्धता से तात्पर्य लय की नियमित आवृत्ति से है। ओएन बारफील्ड ने काव्य की छन्दोबद्धता के विषय

1. हिन्दी काव्यादर्श : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 24
2. Sanskrit Poetics As A Study of Aesthetic, P. 46
3. Ibid, P. 46

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विचार करते हुए लिखा है कि आरम्भिक पद्य-लय हमें निसर्ग से उसी प्रकार प्राप्त हुई जिस प्रकार आरम्भ में अर्थ प्राप्त हुआ था। स्वयं प्रकृति सनातन रूप से लयात्मक है। वास्तविक अर्थवत्ता के नष्ट हो जाने पर भी जिस प्रकार प्रेतजीवन से सम्बन्धित पुराकथाएँ निजंधरी कथाओं के रूप में जीवित रही हैं, उसी प्रकार प्रकृति की पुरानी लयात्मक चेतना छन्द में सप्राण हैं। हम छन्द के जन्म को उस व्यतीत में ही जाकर हृदयंगम कर सकते हैं जब मनुष्य केवल दिमाग से ही नहीं बल्कि हृदय और रुधिर-प्रवाह के प्रति भी सचेष्ट था। तब चिन्तन प्रकृतिपरक नहीं था प्रत्युत वह स्वयं प्रकृति था।[1] ओएन बारफील्ड ने बहुत स्पष्ट शब्दों में आगे चलकर कहा कि यह तो बहुत ही परवर्ती अवस्था है जब गद्य उस अमूर्त, अभिप्रायबद्ध हेतुवादी सिद्धान्त से उत्पन्न होता है और मनुष्य की चेतना को प्रकृति के जीवन से विच्छिन्न कर देता है।[2] हिंदी में तो गद्य की परम्परा दो सौ साल भी पुरानी नहीं है। संस्कृत में भी गद्य का आविर्भाव अत्यन्त परवर्ती विकास है।

निश्चय ही काव्य में गद्य-विवेक से परे कोई चीज़ है। इसके कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनकी व्याख्या तो नहीं की जा सकती किन्तु जिनकी आशंसा करनी ही होती है। गद्यकल्प व्यक्ति इन रहस्यमय विच्छित्तियों के प्रति सहज ही अविश्वासी बन जाता है। कवि का एक प्रयास तो गद्यकल्पना से बचने का होता ही है। काव्य की भाषा बाजार और व्यापार की भाषा नहीं है प्रत्युत यह चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण की मूर्त्त भाषा है। इसीलिए सर फिलिप सिडनी ने इसे 'बोलती हुई तस्वीर' (Speaking Picture) का नाम दिया है। संवेदनाओं को ऐन्द्रिक रूप में ही ग्रहण करने के लिये यह संबुद्धि की भाषा का स्थानापन्न है। बिम्बवादी समीक्षक ह्यूम (T. E. Hulme) का कहना कि यह हमें आबद्ध करने का प्रयास करती है, वस्तु को प्रत्यक्षमिव दिखलाती है, हमें अमूर्त्त प्रक्रियाओं में बह जाने से रोकती है। यह ताजी उपमाओं और नये रूपकों को इसलिए श्रेयष्कर नहीं समझती है कि हम पुराने रूपक वस्तु को साकार रूप में उपस्थित नहीं कर पाते हैं और वे शनैः शनैः लेन-देन की अमूर्त्त भाषा बनकर रह जाते हैं।[3] अतएव एक कवि संभोग का चित्र देते हुए यह नहीं कहेगा कि उंगलियाँ देह पर फिर रही हैं बल्कि वह तो यह कहेगा कि 'उंगलियों को आँख पढ़ती देह का भूगोल।' अतएव ह्यूम कहते हैं कि चाक्षुष बिम्ब नव्य रूपकों के प्याले द्वारा ही ढाले जा सकते हैं : गद्य तो पुराना वर्तन है जिसकी फूटी पेंदी से ये चू जाते हैं। इसलिए काव्य में साहृश्यविधान सजावट मात्र नहीं है प्रत्युत वह रागपरक भाषा की आत्मा ही है।

अपने गणतंत्र से काव्य को बहिष्कृत करने की धमकी देनेवाला प्लतोन (Plato) भी काव्य के जादू से पूरी तरह परिचित था। यदि ऐसा नहीं होता तो बहिष्कार का प्रश्न ही उसके मन में नहीं उठता। इसीलिए वह अपनी 'आदर्श नगरव्यवस्था' (Republic) में कहता है कि जो बात कविता में कही जाती है, वही बात उसी तरह गद्य में कही जाने पर अपना जादू खो बैठती है। कवि भी शब्दों और वाक्यांशों द्वारा अनेक शिल्पों के रंगों को इस ढंग से भरता है कि अन्य लोग जो कि उसी के समान अज्ञान होते हैं तथा जो शब्दों के द्वारा ही वस्तुओं को देखते हैं, उनके शब्दों को अत्यन्त उत्तम मानते हैं फिर चाहे वह ताल, छन्द और लय में मोची की कला के विषय में कुछ कहे, चाहे सेनापतित्व के विषय में और चाहे किसी वस्तु के विषय में। यह अलंकार जो प्रभाव स्वाभाविकतया उत्पन्न करते हैं, वह वास्तव में ऐसा ही महान् है। यद्यपि संगीत की रंगत को उतार देने पर अपने केवल वास्तविक रूप में कवियों के ये कथन क्या रूप दिखलाते हैं उसको मैं समझता हूँ तुम जानते ही हो।[4] प्लतोन ने गद्यान्वित काव्य की उपमा, इसी स्थल पर, वैसे चेहरों से दी है जिनकी प्रफुल्लता मिट गयी हो। यह सच है कि प्लतोन ने यह बात कविता की संस्तुति में नहीं प्रत्युत निंदा के लिए कही थी किन्तु हम उसे अपने ढंग से भी समझ सकते हैं।

रोमांटिक चिंतकों में वर्डस्वर्थ ने इस भाँति का प्रचार

---

1. Poetic Diction : 1928 Edition, P. 159.
2. Ibid, P. 158.
3. Speculations, P. 135-6.
4. आदर्श नगर-व्यवस्था, अनु० भोलानाथ शर्मा, पृ० 622-3.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया था कि गद्य और कविता की भाषा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं होता है। उनके अनुसार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गद्य और कविता की भाषा में न कोई तात्त्विक भेद है और न हो सकता है।[1] वर्डस्वर्थ आलंकारिक भाषा से नाता तोड़ने के प्रयास में अतिवाद पर चले गए थे। उन्होंने स्वयं 'लिरिकल बैलेड्स' के दूसरे संस्करण में अपने मत में संशोधन कर लिया था और लिखा था कि शायद ही कोई इसे अस्वीकार करे कि आवेग, रीति अथवा पात्र में से किसी का भी उतनी ही विचक्षणता से यदि पद्य और गद्य में वर्णन किया जाय, तो गद्य केवल एक बार पढ़ा जाएगा जबकि पद्य सैकड़ों बार।[2] अवश्य ही अपने संशोधित वक्तव्य में वर्डस्वर्थ ने काव्य की रहस्यमय विच्छित्ति को ही स्वीकार कर लिया है।

किन्तु वर्डस्वर्थ का दुर्भाग्य रहा कि उनके संशोधित विचार पर लोगों का ध्यान नहीं गया और उनकी एतद्-विषयक पूर्व स्थापना ही चलती रही। जैसा कि पहले कहा गया है उनके मुख्य सहयोगी कालरिज ने ही उनकी व्याख्या का पुरजोर खंडन किया और बताया कि गद्य और काव्य के बीच अनिवार्य भेद है। वर्डस्वर्थ, जैसा कि कॉलरिज ने कहा, केवल एक ऐसे सत्य पर अतिरिक्त प्रकाश डाल रहा था जिसमें किसी को भी संशय नहीं हो सकता है। कॉलरिज का कहना है कि वर्डस्वर्थ के कथन का तात्पर्य इतना ही है कि कुछ ऐसे भी वाक्य हैं जो एक साथ ही गद्य अथवा काव्य में प्रयुक्त हो सकते हैं।[3] किन्तु इसके बाद गद्य और काव्य की भाषा की समानता समाप्त होने लगती है। कॉलरिज ने छन्द के मनोविज्ञान पर विचार करते हुए इस पार्थक्य के स्वरूप की मीमांसा किंचित् विस्तार से की है। उनके अनुसार छन्द का आविर्भाव आवेग-दीप्ति के कारण होता है, अतः यह आवश्यक है कि छन्दोमयी रचना की भाषा भी सर्वत्र आवेगदीप्त हो।[4] छन्दों के प्रभाव पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि छन्द से सामान्य भावना तथा अवधान की सजीवता एवं तीव्रता में वृद्धि होती है। विस्मय के निरन्तर उद्बोधन और जिज्ञासा की बार-बार उद्दीप्ति तथा परितृप्ति से यह प्रभाव उत्पन्न होता है। औषधसिक्त परिवेश अथवा उद्दीप्त वार्तालाप के समय मदिरा की भाँति उनका प्रबल किन्तु अलक्षित प्रभाव पड़ता है।[5] कॉलरिज के अनुसार स्वयं छन्द अवधान का उद्दीपक होता है। और फिर इससे यह प्रश्न सदा खड़ा होता है कि अवधान को उद्दीप्त करने का आखिर प्रयोजन क्या है? कॉलरिज ने इस प्रश्न को खड़ा कर उत्तर देते हुए यह कहा है कि अवश्य ही आनन्द की बात करके हम प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते। इसका एक ही युक्तियुक्त उत्तर हो सकता है और वह यह कि छन्दोबद्ध रचना इस लिए की जाती है कि कवि गद्य से भिन्न भाषा का प्रयोग करता है।[6] कॉलरिज का निश्चित मत है कि गद्य और कविता की भाषा में तात्त्विक अन्तर है और उसे होना भी चाहिए।

कॉलरिज का यह कहना कि गद्य और कविता की भाषा एक नहीं होती है, एकदम सही है। लेकिन उनके इस निष्कर्ष के आधार के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है। यह इसलिए कि इस निष्कर्ष के आधार के रूप में उन्होंने छन्द को ग्रहण किया है। किन्तु छन्द तो कविता का अन्तरंग उपादान नहीं होता, वह तो काव्य का परिधान है, ऊपरी चीज है। अच्छी कविता छन्दों से छिटक कर भी लिखी जाती है। इस प्रसंग में संस्कृत के आचार्य कॉलरिज की अपेक्षा अधिक गंभीर भी हैं और सही भी। इलियट के अनुसार काव्य के शब्दकोश, मुहावरे तथा व्याकरणिक नियम गद्य के सदृश नहीं हो सकते हैं।[7] वर्डस्वर्थ ने इस बात की उपेक्षा की कि चूँकि गद्य खोटी बोलचाल की भाषा से रूप ग्रहण करता है, इसलिए उसमें कुछ 'लापरवाही'

1. '...that there neither is, nor can be, any essential difference between the language of prose and metrical composition'. (English Critical Essays XIX Century, p. 11)
2. वही, पृ० 27
3. गोकक द्वारा The Poetic Approach to Language में उद्धृत, पृ० 163
4. Biographia Literaria, p. 177.
5. वही : पृ० 177-8
6. Biographia Literaria, p. 179.
7. On Poetry And Poets : Faber and Faber, p. 186.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(casualness) रहती है। साथ ही, गद्य में लयात्मकता का अभाव होता है। कविता और गद्य और इसलिए शास्त्र में भी शब्द वे ही रह सकते हैं, वे किसी भी तरह विलक्षण न होंगे, गठन भी वाक्य का एक ही सा हो सकता है, किन्तु ज्यों ही इसमें लय आती है, कुछ ऐसा तत्त्व आ जाता है जो संगीत तो नहीं है किन्तु जिसका जन्म संगीत से ही हुआ है। उसे वातावरण कह लीजिए या जादू। जॉवर्ट ने उसे ही लक्ष्य कर कहा है कि उत्तम काव्य वह है जो सुगंधि अथवा ध्वनि की तरह साँस फेंकता है।[1] ऐसे अवसरों पर हम इस बात की समुचित व्याख्या नहीं कर सकते हैं कि किस कारण गद्य कविता में बदल गया।

पद्य होना काव्यत्व की सनद पाना नहीं हो सकता है। यदि हम द्विवेदी-युग और छायावाद-युग को आमने-सामने रखकर कॉलरिज के मंतव्य पर विचार करें तो उसकी त्रुटि हमें स्पष्टतः दीखेगी। वस्तुतः हिन्दी कविता में एक ही प्रकार की भाषा में लिखित साहित्य का कोई दूसरा ऐसा युग नहीं है जिसमें जो इतना बड़ा अन्तर रखता हो। सच तो यह है कि द्विवेदी-युग की अधिकांश कविताएँ पद्य में लिखी जाकर भी गद्य ही बन कर रह गयी हैं। छायावादी काव्य ने तो यह भी प्रमाणित कर ही दिया है कि द्विवेदी-युग की कविताएँ कविताएँ थीं ही नहीं, वे पद्य भर थीं।

कदाचित् यह बात सबसे पहले प्लतोन को सूझी थी कि काव्य में कही गयी बात उसी प्रकार गद्य में भी कही जाय तो वह अपना सारा चमत्कार खो बैठती है। कॉलरिज अपने ढंग से प्लतोन के इस कथन की पुष्टि ही करते हैं कि कविता सबसे अच्छे शब्दों का सर्वश्रेष्ठ क्रम है। यानी कविता सबसे अच्छी भाषा है। यह सच है कि एक ही प्रकार के शब्दों में एक बात कह कर गद्य और फिर उन्हीं शब्दों में वही बात कह कर काव्य लिखा जा सकता है। इसके बावजूद जो चमत्कार उस काव्य में उत्पन्न होगा, वही कविता की अपनी अदा है। इसके उदाहरण के लिए दिनकर की रचना 'उजली आग' का यह अंश प्रस्तुत किया जा सकता है: "विस्मृति के जिस सुधा-सिन्धु में तुम्हें कविता और दर्शन पहुँचाते हैं, वहाँ मैं नारी-प्रेम की नाव पर चढ़ कर गया हूँ। रूप साकार कवित्व है और सौन्दर्य की लहर दर्शन की लहर से मिलती-जुलती है।" (नर-नारी)। ठीक यही बात लगभग इन्हीं शब्दों में दिनकर ने 'उर्वशी' के तृतीय अंक में कही है, लेकिन शब्दों के बैठने की अदा या लय के कारण 'उर्वशी' की पंक्तियों का प्रभाव अधिक मोहक और चमत्कारी हो जाता है। देखिए—

> **चिंतन की लहरों के समान सौंदर्य-लहर में भी है बल,**
> **सातों अम्बर तक उड़ता है रूपसी नारि का स्वर्णांचल।**
> **जिस मधुर भूमिका में जन को दर्शन तरंग पहुँचाती है,**
> **उस दिव्य लोक में हमें प्रेम की नाव सहज ले जाती है।**
> **—तृतीय अंक**

यही कविता और गद्य का अन्तर है जो भाषा में विलक्षणता उत्पन्न होने के कारण आता है। इसी कारण काव्य में गद्य की तुलना में मनःप्रसादन की अतिरिक्त क्षमता होती है। ह्यूम की एक सूक्ति याद आती है: काव्य का आनंद पैदल चलने का आनंद है, उसमें हम भूमि का संस्पर्श करते हुए चलते हैं, किन्तु गद्य तो एक रेलगाड़ी है जो हमें मंजिल तक ढो कर पहुँचा देती है।

गद्य के विकास का प्रभाव कविता के रूप-विधान पर गहराई से पड़ता है। उसका एक आनुषंगिक परिणाम यह होता है कि वाक्यों में शब्दों का स्थान अपेक्षया अधिक नियत होने लगता है। जब ऐसा होता है तब कवि गद्य में ही काव्य लिखने लग जाता है। आधुनिक युग में सभी विकसित भाषाओं के साहित्य में यह घटना कमोबेश मात्रा में घट रही है। आधुनिक काव्य में शब्दों का गद्यकल्प चयन एक अतिप्रचलित दृश्य है। अतः भाषा का विकास हमें यह बतलाता है कि काव्य पद्य को तलाक देता जा रहा है और वह धीरे-धीरे गद्य की बाँहों में आबद्ध होने के लिए अकुला रहा है। भाषा का नैसर्गिक विकास गद्यकल्प की ओर उन्मुख है।

सारांश यह कि काव्यभाषा दैनंदिन जीवन के आकर्षणहीन ग्राम्य अथवा लोकमात्र प्रयुक्त शब्दों से नहीं बनती है और न अप्रतीत अथवा शास्त्रमात्र प्रयुक्त शब्दों से। अतएव यह ग्राम्य अथवा पामर दोनों से परे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा का कोई उदात्त और अवदात स्वरूप है। अवश्य ही काव्य-भाषा की इस शक्ति का मूल स्रोत अभिव्यंजना की प्रणाली में प्रच्छन्न है। यानी कविता में क्या की अपेक्षा कैसे का अधिक महत्त्व होता है। प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सा तत्त्व है जो कविता को गद्य से विलग करता है? वह तत्त्व वक्रोक्ति है। काव्य का काव्यत्व अन्ततः वक्रोक्ति ही है। "कला अथवा वक्रोक्ति जब अपने चरम विकास पर पहुँचती है तब काव्य का रहस्य गद्योद्घाटनपटु उँगलियों से नहीं खुलता।" कुन्तक ने बताया है कि काव्य में भाव और शैली की प्रतिस्पर्धा रहती है, और यही साहित्य है। यही बात शास्त्र की भाषा के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक-आध बार

कृष्ण कुमार

एक-आध बार हमने सोचा
इस छेद से अभी कोई लावा फूटेगा-
और बहुत बड़ा हंगामा होगा——
तक़रीबन पाँच साल हो गए।
एक-आध बार हमने सोचा
अगर पूरब की ओर जाती हुई ट्रेनें
रोक कर पश्चिम की ओर मोड़ दी जाँय तो,
डिब्बों में बैठे हुए लोग उतरेंगे नहीं
बल्कि खिड़कियों से झाँक कर खुश होंगे——
"कैसा अचम्भा है !"
सड़क पर भी अपने यंत्रों का उपयोग कर लेना
किसी गहरे मतलब से है
सड़कों पर सुराग नहीं लगाया जाता
इसीलिए एकान्त मिल जाता है
जहाँ हर कुछ स्वेच्छा से संभव है।
आपने जो बात कही
उस पर मैं भी सहमत हूँ
(अक्सर यही कहकर मैं बातों से छुट्टी पा लेता हूँ)
"सत्यनारायण की कथा है"
मैं शरमाते-शरमाते बोला——"आप तो साम्यवादी कार्यकर्त्ता..."
उन्होंने कहा—"सौ तो है ई...ई...
साम्यवाद आ जाय उसी के लिए यह मनौती"।
दो हैरत अंगेज़ इन्सान हैं
उन्होंने फैसला लिया है—
सड़क के इस पार पहले की कोठी बढ़ती रहे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सड़क के उस पार दूसरे की कोठी बढ़ती रहे
(पीसफुल को-एग्ज़िस्टेंस दोनों के लिए बड़ा आवश्यक हो गया था)
क्योंकि पहला दूसरे के बारे में बहुत सारी बातें जानता था
जो दूसरे को नहीं मालूम
और दूसरा पहले के बारे में बहुत सारी बातें जानता था
जो पहले को नहीं मालूम
(वे दोनों एक-दूसरे को देवदूत कहकर छुट्टी पा लेते हैं)
सड़क के इस पार और उस पार देवदूत !
आपने जो बात कही
उस पर मैं भी सहमत हूँ
मुझे अपना फटा कोट ज़रूर रफ़ू करा लेना चाहिए
मुझे इस आफ़त के समय सावधान हो जाना चाहिए
(बहरहाल सड़क पर बाएँ-दाएँ—किसी भी तरह—चलने लगना चाहिए)
इस योजना की मुख़ालफ़त और उस योजना के पक्ष में
ज़ोर-शोर से लग जाना चाहिए
मैं थोड़ा दुबला हो गया हूँ
डाक्टर से मिल कर राय लेनी चाहिए
और नेता की राय में (जिसके भाषणों में सीमा से कहीं अधिक
बारूद की गंध होती है)
फोटोग्राफ से अधिक काम के रेखा-चित्र हैं
कि, जब चाहें दो-एक रेखा मिटा सकें
और कोई नई मूर्ति गढ़ सकें
जो कल तक किसी की भी हो सकती थी
(पुल की, गांधी, सुभाष, मार्क्स, चूहे या बिल्ली की)
तक़रीबन पाँच साल हो गए ।
डायरी के पन्नों में एक हज़ार ऐसे मशविरे भरते गए
जो मुझे सुबह से शाम के भीतर पूरे कर लेने चाहिए
साथ-साथ वह काम, जो महीने भर प्राण-पोषण के पक्ष में होता है ।
और तीसरा हैरत अंगेज़ आदमी
एक-आध बार ट्रेनों में चढ़ते मिल जाता है
यानी उस वक्त जब मैं फिलहाल टटोलता हूं
पाकिट में देश
जैसे माचिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे टिकट
(जो ऐन वक्त काम आए)
उसने कुछ ऐसी बातें मेरे बारे में बताईं
जिन्हें मैं नहीं जानता था
(मैं उसे देवदूत कहकर छुट्टी पा गया)
"जी, कमाल है, आप नहीं जानते
चीज़ों का दाम बढ़ गया है
कागज़ों में छिप गए हैं पहाड़, नदियाँ, ज़मीन और फसलें..."
मैं अचकचाकर सोचता हूँ
कोई कहाँ ढूँढ़े अंधे को दो आँखें,
मैं इस देश में हूँ जिसमें निर्णय कर पाना कठिन है
समुद्र में डिब्बेबंद भोजन और कुतुबनुमा में से
कौन सबसे ज्यादा आवश्यक है।
क्या कहा ? जी, लोग समूहों में रहने की बजाय केवल उन्हीं डालों को चुनें
जो पेड़ की फुनगियों के करीब हैं
ताकि वे ज़रूरत पड़ने पर पेड़ का ऊपरी हिस्सा टटोल सकें
मगर इससे फायदा ?
मैं हाल में बैठा हुआ सोचता हूँ;
एक जुमला है, जिसे हर आदमी अपने मुँह में
चाकलेट की तरह
फेर रहा है
जिसका स्वाद कुछ ऐसा ही होता है
जैसे—सच वह है जो झूठ नहीं
कि, करीब की कुर्सी पर बैठा हुआ बूढ़ा चौंकता है
और फिर बुदबुदा कर शांत हो जाता है—मंत्रीगण घाघ हैं
और पते की बात...
मैं आधी बात छोड़ कर बाहर आ जाता हूँ
जहाँ तिरंगे के नीचे से
एक।एक चार-छः दर्जन कारें, लाखों परीशान-हाल बच्चे, निष्काम आदमी,
औरतें
तितर-बितर हो रहे हैं
और मैं सोच रहा हूं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक़रीबन हर पाँच साल बाद
फिर वही एक बात
एक-आध बार हमने सोचा
इस छेद से अभी कोई लावा फूटेगा——
और बहुत बड़ा हंगामा होगा——

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक और मानवीय दायित्व

नवल किशोर

लेखक क्यों लिखता है, यह प्रश्न सदा विवादास्पद रहा है। आयनेस्को के पास इसका उत्तर यह है : "शायद लेखक का उद्देश्य केवल एक किस्म की इमारत बनाना है, जो साहित्यिक या रंगमंचीय नियमों को समाहित और प्रदर्शित करती है—ठीक उसी प्रकार से जैसे कि एक शिल्पी अंतिम विश्लेषण में मात्र वास्तुकला के नियमों को प्रदर्शित करता है और ठोस अभिव्यक्ति देता है। एक अप्रयुक्त चर्च, जो अब एक पूजा-स्थान नहीं है, एक अस्पताल या पुलिस-चौकी बन सकता है, लेकिन यह है अब भी अपने में एक भवन, चर्च नहीं, वास्तुकला का एक अंग, वस्तुतः यह कभी चर्च था भी नहीं ; इसका-चर्च के लिए सिर्फ उपयोग किया गया था, इसी तरह एक नाट्यकृति का प्रयोग अस्थायी तौर पर प्रचार या शिक्षा अथवा राजनीतिक-दीक्षा के लिए किया जा सकता है। वे शक्तियाँ, जो इसका उपयोग अपनी इच्छानुसार करती हैं, इसे एक जीवन्त रचना—-एक सर्जित कृति के होने से नहीं रोक सकतीं।" सार्त्र का उत्तर इसके विपरीत है : "लेखक, वह चाहे या न चाहे, एक ऐसा मनुष्य है जो लोगों के बीच के अपरिभाषेय सम्बन्धों को प्रेम और घृणा के नाम देता है, जो सामाजिक सम्बन्धों को अत्याचार और बंधुत्व की संज्ञा देता है। मैं कहता हूँ कि लेखक यदि दुनिया के किसी पहलू पर चुप रहता है तो—वह चाहे या न चाहे, भाषा के संसार से सम्बद्ध का मौन भी शब्द होता है—हमें पूछने का अधिकार है 'तुम उस विषय की तुलना में इस पर क्यों बोले और क्योंकि तुम एक परिवर्तन के लिए बोलते हो, उस परिवर्तन की अपेक्षा यह बदलाव क्यों चाहते हो ? तुम डाक-टिकिट बनाने के तरीके को क्यों बदलना चाहते हो बजाय गैर-यहूदी मुल्क में यहूदियों के प्रति व्यवहार बदलने के ?—इसलिए उसे उत्तर देना ही होगा—हम क्या बदलना चाहते हैं।" पहले वक्तव्य के अनुसार कलात्मक-सृजन अपना उद्देश्य आप ही है और दूसरे के अनुसार लेखन की चरितार्थता जीवन को मानवीय अर्थ देने के संकल्प और दुनिया को बदलने के कर्म को बल देने में है। कला और साहित्य का प्रयोजन-सम्बन्धी विवाद बहुत पुराना है, पर हमारे युग में इसका संदर्भ बदल गया है। यह बदला संदर्भ राजनीतिक है, जो इस समय के दो प्रतिनिधि लेखकों के उक्त वक्तव्यों की विरोध-दिशा से स्पष्ट हो जाता है।

सैमुल बैकेट के नाटक 'गोडो के इंतज़ार में' के बारे में अलबर्तो मोराविया का कहना है कि यह पश्चिमी समाज के सबसे ज्यादा 'खुले दिमाग के' और प्रतिक्रियावादी वर्ग के बीच पवित्र-ग्रन्थों में एक इसलिए हुआ कि इसमें हमारा सामना अधःपतन के निम्नगामी मार्ग के क्लासिक प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण से होता है और जैसा कि सभी अधःपतन-विषयक वस्तुओं में होता है प्रेक्षक कहानी में अपने लिए कुछ खुशामदी बात पाए बिना नहीं रह सकता : 'तुम्हें गोदो की प्रतीक्षा के लिए किसी विश्वास या कारण की जरूरत नहीं है, अपने दिलों में धर्म की जरूरत नहीं है। तुम्हें सिर्फ अपनी रोजमर्रा की हलचल को बिना गोदो को गंभीरता से लिए जारी रखना है, बिना अधिक सक्रियता से भाग लिए, तब तक जब तक कि तुम यह बिलकुल न भूलो कि तुम दरअसल इन्तजार कर रहे हो...' गोदो का 'बुर्जुआ' किस्म के लोग यह नहीं महसूस कर सकते कि बैकेट एक छोटा पर सच्चा कवि और मंच का प्रथम श्रेणी का शिल्पी है। उन्हें जो चीज सबसे ज्यादा प्रभावित करती है वह यह कि वे बहुत से आसानी से उन तीन फटेहालों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से, जो रस्सी के टुकड़ों और गाजरों में बदल जाते हैं, तादात्म्य कर सकते हैं और निरर्थक असम्बद्धताओं के बारे में बात कर सकते हैं।" मोराविया के अनुसार चूँकि बैकेट पूर्ण निराशावादी है, इसलिए वह एक आशावादी निकल आता है; यह अक्सर वहाँ होता है जहाँ उम्मीद के लिए कुछ नहीं बचता। उसका नास्तिवाद 'निहिलिज्म' एक धनात्मक अभिपुष्टि में बदल जाता है और प्रक्रिया में एक अच्छी पुस्तक बना देता है। बैकेट में वेदना का एक धार्मिक प्रकार है, इयोनेस्को में एक परिवर्तनहीन मानव-दशा मिलती है। बैकेट के साथ प्रेक्षक गंभीर तो रहता है पर इयोनेस्को के साथ मूर्ख में बदल जाता है। इन लेखकों की दुनिया एक कड़े छिलके में है और इससे फौरन अर्थ निकलता है कि यह चूँकि इस छिलके में हैं, यह वेहूदा (एब्सर्ड) है। आधुनिक बुर्जुआ एक अपराध-भावना के अनुभव से, जो उसे उच्चतर बनाती है, अधिक की इजाजत नहीं चाहता। उसकी स्पष्ट जानने की, कि वह किसके बारे में अपराधी महसूस करता है, कोई इच्छा नहीं है। दायित्व-हीनता का यह अभाव उनके अनुयायी लेखकों को कुछ रूढ़ फिकरों और शिल्पगत तरकीबों की ओर ले जाता है, उदाहरण के लिए पिंटर (Pinter) में हम मात्र तथाकथित 'संभावित संकट' महसूस करते हैं। लेकिन पिंटर का चरित्र किससे संकट में है? स्पष्ट रूप में किसी से नहीं, और शायद केवल अपने लेखक से ही। एक नीरस प्रकृतिवादी नाटक से, एक दुराग्रही वैचारिक नाटक से कुछ ग्रहण किया जा सकता है, भले ही वह सिर्फ एक सामाजिक-सांस्कृतिक वक्तव्य हो। लेकिन भावना-हीन ढंग से प्रस्तुत बेकार बातचीत में, जबकि वह अनुभूतिशून्य और अविचारित हो, पाने योग्य कुछ नहीं है। यह हमें संपूर्ण शून्य में, नास्तित्व में, कला के निम्नतम में ले जाता है। इस प्रकार मनुष्य की नियति की अपरिवर्तनीयता का स्वीकार और सामाजिक स्थितियों के प्रति अनुत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टिकोण एक राजनीतिक संदर्भ बन जाता है।

अर्न्स्ट फिशर ने बैकेट को ऊँचा नाटककार माना है। वह उसके नाटक 'एंडगेम' पर विचार करते हुए इस प्रचलित धारणा का खण्डन करता है कि उसके श्रेष्ठ नाटक, जिन्हें 'थियेटर ऑफ एब्सर्ड' के शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है, मानवीय अस्तित्व की पहेली को सारे सामाजिक अभिप्रायों के बाहर और परे प्रकट करते हैं। श्रेष्ठ कल्पनात्मक लेखन बिम्बों के रूप में होता है और इनके सदा अनेक अर्थ होते हैं; लेकिन न हैम्म और न क्लोव (एंडगेम के पात्र) में कोई बाह्याकाश का पात्र है, वे सम्पन्नों और विपन्नों, स्वामियों और सेवकों के समाज से, एक मालिकाना दुनिया से आते हैं, वे अन्योक्तिपरक चरित्र मात्र नहीं हैं, वे विघटनशील सामाजिक नकाब भी लगाए हुए हैं, जो कुछ घट रहा है वह सिर्फ समय नहीं है, जिसकी छिपी चुप्पी सुनने योग्य हो गई है, जिससे डर रिस रहा है, जिससे नास्तित्व संकेतित होता है, केवल विनाश की अपरिहार्य प्रक्रिया ही नहीं है, लेकिन 'क्लोव' का स्वयं को मुक्त करने का, अपने मालिक से आजाद करने का संघर्ष भी है, जिससे वह आदतन बँधा है, जो उसके लिए पिता-प्रतीक है, घृणा का पात्र है, रसद की जगह है, संचित भण्डार है। अन्धा और पंगु 'हैम्म' जानता है कि 'क्लोव' उसके प्रभुत्व से स्वतन्त्र नहीं हो सकता! यह निषेधमूलक दृष्टि आशा का आह्वान भी करती है। परम्परागत 'यथार्थवादी' के लिए तलघर का टाइम-बम घर की हजारों चीजों में एक और जोड़ है और जो कोई भी बम के बारे में ही बोलने का आग्रह करता है, उसे वह वास्तविकता को बिगाड़ने का दोषी ठहराता है। संचार-माध्यमों के स्वामी खतरे से हमारा ध्यान हटाने में सफल हो रहे हैं। इसलिए समृद्धि की तंद्रा में भय के सपने जगाना साहित्य का नैतिक दायित्व हो गया है, अगर 'क्लोव' अपने से बेहतर होना अर्थात् मनुष्य बनना सीख ले, जो किसी बाहरी शक्ति की कैद में मुजरिम न रहकर स्वयं अपना निर्णायक बन जाये तो शायद उसके लिए भविष्य है—एक अधिक मानवीय संसार, पुराने से ज्यादा तर्कसंगत, काली धूल से अलग अचानक निगाह में आने वाला फूल। अतः फिशर के अनुसार कल्पनात्मक कृतियों को केवल सामाजिक वास्तविकताओं में वापस ले जाना और उन्हें सामाजिक स्थितियों की 'प्रतिकृति' मानना जहाँ मूर्खतापूर्ण है, वहीं उन्हें निर्बन्ध कल्पनात्मक प्रक्रिया के प्रतिफल के ही रूप में, सामाजिक दुनिया से स्वतंत्र एक आन्तरिक कौतुक की ही तरह, देखना भी मताग्रही कट्टरता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोराविया और फिशर के बैकेट सम्बन्धी मन्तव्य ऊपर से परस्पर-विरोधी लग सकते हैं पर वे दोनों बैकेट को प्रतिभाशाली लेखक मानते हैं—मूल्यगत निर्णय सम्बन्धी अन्तर के साथ। दोनों का विवेचन साहित्य के सामाजिक दायित्व के स्वीकार के परिप्रेक्ष्य में ही है। यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। क्या लेखक उच्चतर मानवीय मूल्यों के प्रति द्रोही नहीं हो सकता ? एक उत्तर आज बहुत रूढ़ है—परम्परागत मूल्यों के ध्वंस के साथ मनुष्यता का कोई भी प्रतिमान आज लुप्त हो गया है, दुनिया ही जब फिजूल और बेमानी चीज हो गई है तब किन्हीं मानवीय विश्वासों की बात बेमतलब है। लेकिन इस उत्तर से तो जीने योग्य आदर्शों को खोजना निहायत जरूरी बन जाता है। आधुनिक युग के अनुकूल नैतिकता की तलाश में मूल्यमीमांसीय मत-मतान्तर अनेक हैं, पर यह प्रागनुभव (Apriori) के रूप में स्वीकृत है कि आदमी को दायित्वपूर्ण ढंग से एक सम्मिलित नियति को जीना है—एक को दूसरे के साथ रहना है। और यह साथ रहने का रिश्ता ही इन्सानी रिश्ता है। एक बेहतर इन्सानी रिश्ते का संदर्शन (Vision) ही साहित्य का लक्ष्य हो सकता है। हार्दिक मानवीय सम्बन्धों की अनुपस्थिति के प्रति चिन्ता का भाव भी इसी संदर्शन का प्रकारान्तरित स्वरूप है। **यह संदर्शन ही किसी लेखक को मानववादी बनाता है।**

क्या कोई लेखक और कलाकार मानव-द्रोही भी हो सकता है ? कोई रचनाकार यह नहीं स्वीकार कर सकता कि यह मनुष्यत्व-विरोधी है। पर ऐसे ताजा उदाहरण हैं जो कलाकारों के ऐसे आचरण को प्रमाणित करते हैं। यह सही है कि बहुत बार स्थापित व्यवस्था ने और अल्पमति तथा मताग्रही विद्रोहियों ने सच्चे विद्रोही बुद्धिजीवी को मुजरिम करार दिया है, पर यह भी कम सत्य नहीं है कि एक अमानवीय व्यवस्था का पक्ष लेने और उसे अपनी सेवाएँ देने लेखक-कलाकार खुद आगे आए हैं। थामस मान के शब्दों में इस प्रकार का विश्वास कि बुद्धिजीवी प्रकृति से ही वामपक्ष (सामाजिक-राजनीतिक शब्दावली में) ग्रहण करता है और अनिवार्यतः स्वतंत्रता, प्रगति और मानवता से जुड़ा रहता है, बहुधा गलत सिद्ध हो चुका है : "बुद्धिजीवी दक्षिण-पक्ष को भी ठीक वैसे ही ग्रहण करता है और पूरी योग्यता के साथ···आदमी के लिए यह सम्भव है कि सर्वोत्तम क्षमता के साथ···उस सबका पक्ष ले जिन्हें उदारवाद और प्रगतिशीलता अँधेरे की शक्तियाँ कहें" (उदाहरण माइस्त्र और एज़रा पाउंड)। ऑरवेल ने गत युद्ध के दिनों ही अपने इस विश्वास के टूटने की बात कही थी कि किसी चिन्तनशील व्यक्ति का फ़ासिज़्म से सरोकार नहीं हो सकता; जर्मन-अधिकृत फ्रांस में 'फ्रांसीसी सभ्यता' का छद्म बनाए रखा गया, पाउण्ड रोम-रेडियो से यहूदियों के विरुद्ध गरज रहा था और सेलाइन पेरिस में मूल्यवान प्रदर्शनी था और ऑरवेल उन लोगों की एक आरम्भिक सूची भी दे सकता था जो इंग्लैण्ड पर अधिकार की स्थिति में जर्मनों से सहयोग करते। नाज़ी जर्मनी के विख्यात शिल्पी एलबर्ट स्पीयर ने नाज़ियों के बीच अपने को पाए जाने की शर्म को लिपिबद्ध करते हुए कहा है, "मैंने न केवल उस लड़ाई में ही भाग लिया, जिसके बारे में हमारे अन्तरंग वृत्त के किसी सदस्य को संदेह नहीं था कि वह विश्व-प्रभुत्व के लिए है। अपनी योग्यताओं और क्षमता से मैंने इसे लम्बा चलाया भी...भूमंडल को थामे गरुड़ के साथ बड़ी गुम्बद वाली इमारत मात्र एक प्रतीक से ज्यादा होने के लिए थी ...हिटलर ने यहूदियों के उन्मूलन के इरादे को कभी छिपाया भी नहीं था (हिटलर के इस शिल्पी ने नूरेम्बर्ग मुकदमा में अपराध स्वीकार किया और बीस वर्ष की सजा भोगी)। अतः स्पष्ट है कि **मानवता का पक्षधर होने के लिए लेखक का किसी-न-किसी अर्थ में मानवतावादी होना अपेक्षित है।**

× × ×

कला और साहित्य के इतिहास में ऐसे रचनाकारों की एक गौरवशाली परम्परा है जिन्होंने क्रूर सत्ता के विरुद्ध संघर्ष में भारी कुर्बानियाँ की हैं। जर्मन-आधिपत्य के खिलाफ़ प्रतिरोधी-आन्दोलन में पश्चिमी लेखकों ने जबर्दस्त काम किया। इसी अनुभव से गुज़रकर सार्त्र ने साहित्यकार की प्रतिबद्धता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और ऐसा करते हुए उसने लेखक के सामाजिक दायित्व को एक नयी अर्थवत्ता दी। सार्त्र के अस्तित्ववाद ने मार्क्सवाद को अंगीकार किया और मनुष्य का अद्यावधि इतिहास उसे अभाव के विरुद्ध संघर्ष लगा; अतः वर्ग-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभक्त समाज से मनुष्य की मुक्ति के लिए समाजवाद उसका प्रतिपाद्य बना और प्रतिबद्धता का अभिप्राय हुआ —समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता।

सार्त्र के अनुसार गद्य में शब्द को अतिक्रान्त कर हम उस वस्तु की ओर अभिमुख होते हैं जिसे वह संकेतित करता है—शब्द विचारों का वाहक होता है। यहाँ भाषा आत्मप्रकाशन का मानवीय कर्म है। मेरे लिए और दूसरों के लिए शब्द एक वस्तु को अँधेरे से बाहर लाते और इसे हमारी सामान्य गतिविधि में अन्तर्ग्रथित करते हैं। नीग्रो के प्रति अत्याचार तब तक कुछ नहीं है जब तक कि कोई यह नहीं कहता कि 'नीग्रो उत्पीड़ित हैं, तब तक कोई इसे महसूस नहीं करता, शायद स्वयं नीग्रो भी नहीं, चूँकि कर्म को अर्थ पाने के लिए सिर्फ एक शब्द की जरूरत है। साहित्यकार चूँकि नामकरण करता है, इसलिए उससे पूछा जा सकता है कि वह क्यों बोलना चाहता है और कुल मिलाकर किसके बारे में बोलना चाहता है। बात करने का अर्थ है (यदि वह सिर्फ बात के लिए ही न हो) एक परिवर्तन करना और इसे लेकर अभिज्ञ होना। चुप होने का मतलब भी बोलना है—दुनिया के एक पहलू पर ही वह चुप क्यों है ? यह प्रचलित धारणा है कि सौन्दर्यात्मक प्रस्तुतीकरण का अभिप्राय है शुद्ध प्रस्तुतीकरण—लेखक को अनुत्तरदायित्व में पलायन का अवसर देने वाला प्रतिबद्धता-रहित प्रस्तुतीकरण (बोइलो के अनुसार ऐसा कोई दैत्य नहीं है, जो कला में उतारे जाने पर पसन्द के काबिल नहीं हो जाता)। लेकिन क्या प्रस्तुतीकरण का अर्थ यही है ? सृजन ठीक पूर्व के क्षण की किसी संभावना से कोई नयी ही वस्तु है और एक ऐसा नियोजित क्रियाकलाप है जो अपने ही नियमों के द्वारा शासित होता है। सर्जक इस तरह दोहरे तौर पर स्वतंत्र है—किसी आविष्कृति के कारण और योजनानुसार रचना को लेकर। वह एक रचना का रचयिता है, दूसरी ओर पाठक किसी पुस्तक या कलाकृति के सम्बन्ध में तथ्य का नहीं मूल्य का निर्णय लेता है—अगर आप कहते हैं कि यह पुस्तक अच्छी है तो इसका अर्थ है सभी से पुस्तक को अच्छा समझा जाने का आग्रह। इसी प्रकार का आग्रह होता है जो लोगों को बुरा लगता है। लेकिन आग्रह किसी भी बात के लिए हो, जिस व्यक्ति को सम्बोधित किया गया है उसकी स्वतंत्रता की सदा पूर्व-शर्त है। मैं एक व्यक्ति से सौन्दर्यात्मक निर्णय देने का आग्रह नहीं कर सकता, यदि वह स्वतंत्र नहीं है—यदि वह अपनी रुचि का गुलाम है। 'यह पुस्तक अच्छी है' कहकर, मैं पुस्तक के गुणों के स्वीकार के साथ ही घोषित करता हूँ कि मैं एक नियोजित रचना की साक्षी में हूँ और कि तत्क्षण मेरी स्वतंत्रता के प्रति भी अपील की जा रही होती है...मेरी स्वतंत्रता के प्रति अपील इस लिए है कि मुझे एक सार्वभौम निर्णय के लिए कहा जा रहा है : 'यह अच्छी है' यहाँ वैयक्तिक स्तर पर, मेरे आवेगों और ग्रंथियों के स्तर पर मुझे उद्बुद्ध करने का प्रयत्न नहीं है, मुझे तत्काल ही अपने को विश्व-जनीनता के धरातल पर स्थित करने के लिए कहा जाता है। अतः मैं एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में सम्बोधित किया जाता हूँ और यही सौन्दर्यात्मक परिप्रेक्ष्य का अर्थ है। ऐसा नहीं है कि मुझे अन्याय के प्रति क्षुब्ध नहीं होना है, ऐसा नहीं है कि वस्तुएँ मेरी निर्वैयक्तिक सत्ता के सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं; नहीं : यह आशा की जाती है कि मेरा निर्णय मेरी सम्बद्धता लिए होगा, लेकिन यह सम्पृक्ति स्वतंत्रतापूर्वक ग्रहीत होनी चाहिए। यह अपील मेरे शरीर-धर्म से नहीं, पर मनुष्य में जो वास्तव में मानवीय है उससे, उसकी स्वाधीनता से की जाती है...और चूँकि साहित्य से मानव-जीनव स्वतंत्रता की निरन्तर स्वीकृति है, चूँकि सौन्दर्य की खोज में वह लगातार उस स्वातंत्र्य का आह्वान करता है, यह कहना गलत है कि कोई निराशावादी साहित्य जैसी वस्तु है। साहित्य केवल अच्छा या बुरा ही हो सकता है। यदि साहित्य अच्छा है तो वह कभी निराशावादी नहीं होगा, क्योंकि, किसी विषय को ले, वह अपने पाठकों को, अपने को उस भूमि पर रखने का आमंत्रण देता है जहाँ वे स्वतंत्र हैं, इसलिए, वे उसे 'बदल सकते हैं' जो उन्हें दिखाया जाता है—अगर मनोवैज्ञानिक और आत्मगत विक्षोभों का वर्णन है, यदि उनके सामने सामाजिक अन्याय का चित्रण है।...यदि हम लेखक को राजनीतिक व्यक्ति के समकक्ष रखें, जिसने स्वतंत्रता की प्राप्ति का उद्देश्य अपनाया है, तो देखेंगे कि उसके पास अपने लक्ष्य को पाने का हिंसा के सिवा कोई विकल्प नहीं है। हिंसा को न्यूनतम भले ही कर दिया जाए, उसे एकदम दबाया नहीं जा सकता, क्योंकि इसका प्रयोग कम-से-कम उन लोगों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खिलाफ तो होगा ही जो उस स्वतंत्रता को समाप्त करना चाहते हैं जिसे वह हर किसी के लिए चाहता है। इसके विपरीत लेखक अपने को ऐसी स्थिति में पाता है जहाँ, राजनेता की भाँति स्वतंत्रता के निमित्त, राजनेता की तरह मनुष्य के अधिराज्य को पाना चाहते हुए, उसे हिंसा करने की कोई जरूरत नहीं रहती। वह हिंसा को अस्वीकृत करता है। झूठे, दबाए गए और तोड़े-मरोड़े उपयोग में अवश्य शब्दों की हिंसा संभव है। पर तब हम साहित्य के धरातल पर नहीं होते, हम प्रोपेगण्डा या विज्ञापन की भूमि पर होते हैं। यदि हम चाहते हैं कि हमारी कृतियाँ अच्छी हों तो हम स्पष्टतः, बिना हिंसा के, स्वतंत्रता के प्रति एक अपील करने का प्रयास करते हैं...एक लेखक जो यह पक्ष नहीं लेता वह दोषी है; वह केवल दोषी नहीं है। वह जल्दी ही लेखक रहना बन्द कर देता है।" (उदाहरण Drieu la Rochelle)। सार्त्र का यह लम्बा उद्धरण यहाँ इसलिए जरूरी है कि लेखन और स्वतंत्रता की उसकी धारणा का सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट हो सके—लेखकीय दायित्व के उसके सारे निष्कर्ष स्वतंत्रता के मूल्य से निःस्रवित हैं।

लेखक अपनी रचनाओं के द्वारा स्वतंत्रता का पक्ष लेता है, इसलिए वह मानव-स्वतन्त्रता के प्रति उत्तरदायित्व का वरण भी करता है। उसकी यह अपील एक अमूर्त स्वतन्ता के लिए नहीं हो सकती, क्योंकि तब यह खाली तत्त्वमीमांसीय किस्म का व्यापार होगा। शाश्वत सत्, चिरन्तन न्याय, सार्वकालिक सत्य आदि नित्य तत्त्वों की हिमायत में स्वतन्त्रता नहीं निवास करती, स्वतन्त्रता का आवास ठोस स्थितियों के प्रति लेखक की अन्तर्ग्रस्तता में है क्योंकि सामान्य स्वतन्त्रता का प्रतिपादन उत्पीड़न में योग देना है: "लेखक जिस स्वतन्त्रता की अपील लिखते समय करता है, वह ठोस स्वतन्त्रता है जो किसी ठोस कार्य में संपादित की जाती है। यह विशेष घटना के प्रति ठोस आक्रोश है, यह उस विशेष संस्थान को बदलने की आकांक्षा है जिसके लिए वह अपील करता है।" बिना किसी परिवर्तन की कामना के स्वतन्त्रता के लिए इसलिए अपील, कि आज़ादी का अनुभव किसी सुन्दर कलाकृति की उपस्थिति में किया जा सके, कला के लिए कला वाली धारणा के रूप में जाना जाता है। यह धारणा इस सुविधाजनक दृष्टि का परिणाम है कि लेखक चूंकि अपने वर्ग के साथ सामंजस्य सम्बन्ध में नहीं है, इसलिए किसी के उपयोग में नहीं आ सकता। बुर्जुआ वर्ग किसी लेखक को अपनी कूपमंडूकता, रुचि और समझ के अभाव के विरोध में गुस्सा जाहिर करने का अवसर देकर (जबकि यह गुस्सा अन्याय के प्रतिकार के लिए नहीं) होता खुश होता है। नैतिक मूल्यों के नाम पर उसे साफ तौर पर, और सबसे ज्यादा सताए गए लोगों, सर्वहारा, यहूदी, नीग्रो, उपनिवेशों की प्रजा, अधिकृत किए गए देशों के पक्ष में और इसी प्रकार की माँगें करनी चाहिए—अन्यथा वह स्वयं जुल्मी या चालाक है। स्वतन्त्रता के हित में उसे अन्याय की निन्दा, वह चाहे दोस्तों का हो या दुश्मनों का, करनी चाहिए, लेकिन वह अगर ऐसा नहीं करता तो सिर्फ मेहनतकशों और सोवियत रूस की निन्दा करके ही अपना कार्य समाप्त समझेगा और वह साध्य को भूलकर साधन पर ही रुक जायेगा। आज लेखक की जिम्मेदारियाँ बहुत साफ हैं।

१. उसे मुक्ति और स्वतन्त्रता का एक धनात्मक सिद्धान्त तैयार करना चाहिए।

२. उसे हर हालत में हिंसा की निन्दा अत्याचार-पीड़ित वर्ग की निगाह से करनी चाहिए। और साध्य-साधन में सच्चा रिश्ता कायम करना चाहिए।

३. उसे स्वतन्त्रता के नाम पर एक व्यवस्था को जमाने या कायम रखने के लिए हिंसा के किसी भी साधन को स्वीकृति देने से इन्कार कर देना चाहिए।

४. और अन्त में उसे अविश्रान्त रूप में साध्य और साधनों, नीति और राजनीति के सम्बन्धों की समस्या पर विचारना चाहिए।

यह हो सकता है कि साहित्यकार के प्रयत्न के बावजूद नतीजा कुछ न निकले। यह सम्भव है कि जिस युद्ध को टालने की कोशिश वह करता है अन्त में वह हो जाए। यह सम्भव है कि वह किसी (पाठक) तक न पहुँचे। पर जिससे उसे बचना चाहिए वह यह कि उसका दायित्व अपराध में न बदल जाए, कि पचास वर्ष बाद कहा जाए: "उन्होंने सबसे बड़ा विश्व-संकट आते देखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रौर वे चुप रहे।"

लेखक एक ठोस स्थिति के प्रति एक निश्चित पक्षधर प्रतिक्रिया के द्वारा ही स्वतन्त्रता का वरण करता है, ग्रतः वह ग्रपने समय के लिए ही लिखता है : "हम कुछ ग्रालोचकों ग्रौर लेखकों के विरुद्ध पक्ष के हैं, हम घोषित करते हैं कि निस्तार इसी धरती पर पाया जाए, यह समग्र मनुष्य द्वारा समग्र मनुष्य के लिए प्राप्त हो, ग्रौर कला जीवन का चिन्तन है, मृत्यु का नहीं।" एक पुस्तक ग्रपने काल में अपना चरम सत्य रखती है। यह एक दंगे ग्रौर ग्रकाल की तरह जी जाती है, हालाँकि कम तीव्रता से ग्रौर कम लोगों के द्वारा, लेकिन उसी तरह से। ग्रपने समय के लिए लिखने का मतलब ग्रपने को उसमें बन्द कर देना नहीं है। ग्रपने समय के लिखना उसका निष्क्रियता से प्रतिबिम्ब देना नहीं है। इसका ग्रर्थ है कि इसे बनाए रखने या बदलने की इच्छा, इसलिए इसका ग्रतिक्रमण कर भविष्य की ओर जाना। वास्तविक ग्रतिक्रमण के लिए ग्रावश्यक है कि लेखक दुनिया के किन्हीं खास पहलुग्रों को बदलना चाहे ग्रौर कोई भी ग्रागे जाना उस ठोस स्थिति से प्रभावित ग्रौर निर्दिष्ट होता है। जो बदलाव का लक्ष्य होती है : "कुछ दिलों में ग्राज द्रियू के लिए निरपेक्ष घृणा है ग्रौर मॉलरो के प्रति निरपेक्ष मैत्री है जिसे मरणोत्तर सौ निर्णय भी नहीं डिगा सकेंगे। एक जीवित मॉलरो हमारे युग के हृदय में उष्ण रक्त-प्रवाह के समान ग्रौर एक मृत मॉलरो इतिहास की दया पर रहेगा।" इस प्रकार सार्त्र के लिए साहित्य कर्म है, गति है।

सार्त्र लेखक ग्रौर उसके पाठक की समस्या पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि ग्राज श्रेष्ठ पक्षधर साहित्य बुर्जुग्रा उदार पाठक को ही ग्रपील कर सकता है, जिस सर्वहारा को लेखक सम्बोधित करना चाहता है, उसके पास कला-ग्रहण के लिए, शिक्षा ग्रौर संस्कार नहीं हैं। ग्रतः उसने दो तरह की पुस्तकों के लिखने की बात कही है—एक वे जो सबके लिए लिखी जाएँ ग्रौर दूसरी वे जो उस समय के लिए तैयार की जाएँ जब सब लोग उन्हें पढ़ने योग्य हों। गैर-क्रान्तिकारी समाज का लेखक अत्यन्त मौलिक ढंग से भाषा से उलझ सकता है, लेकिन क्रान्तिकारी समाज के साहित्यिक को ग्रस्थायी तौर पर सामाजिक शिक्षण के लिए साहित्य-कर्म को त्याग देना चाहिए : "एक ग्रफ्रीकी बुद्धिजीवी के लिए यूरोप में साहित्यिक जीवन-यापन द्रोहपूर्ण ग्राचरण हो सकता है जबकि ग्रपने देश में वह शिक्षक हो सकता था।" सार्त्र के ग्रनुसार "जो लेखक 'स्वयं को दो बिलियन भूखों के पक्ष में नहीं रखता' ग्रौर 'सभी से बोलने ग्रौर सभी पढ़े जाने के लिए नहीं लिखता' वह 'सविशेषाधिकार वर्ग की सेवा में है, ग्रौर उस वर्ग की भाँति शोषक है'।"

सार्त्र के प्रतिबद्धता के सिद्धान्त की आलोचनाग्रों के विश्लेषण क्रम में हम सबसे पहले वामपंथी फ्रांसीसी लेखक क्लोद सिमों को लेंगे, जिसने सार्त्र के इस वक्तव्य को कि बुभुक्षित के लिए कला नगण्य है, ग्रस्वीकार किया है। उसका उत्तर है "मैंने घोर भूख का दुख भोगा है...मेरे लिए कोई भी किताब कीमती थी। पढ़ना मेरी भूख को टालता या शान्त नहीं करता था, या मुझे न भूलने नहीं देता था यह बिलकुल भिन्न बात थी।" इसके ग्रतिरिक्त उसका कहना है कि अगर एक ग्रफ्रीकी कथाकार लेखन छोड़-कर स्कूली बच्चों को वर्णमाला पढ़ाएगा तो इन बच्चों को ग्रागे जाकर पढ़ने को मिलेगा क्या ?—जबकि उस ग्रादमी ने, जो उनकी भाषा में साहित्य लिख सकता था, लेखन-कार्य नहीं किया। सिमों ने फैक्टरी मजदूरों को ग्रपने उपन्यासों पर बात करते पाया है ग्रौर उनके सवाल साहित्यिक पत्रकारों ग्रौर विश्वविद्यालयी छात्रों से भिन्न उसे नहीं लगे। सार्त्र को सिमों नक्कूशाह शुद्धिवादी नीतिकारों की लम्बी पंक्ति में देखता है जो साहित्य की प्रशंसा उपयोगिता की शर्त पर ही कर सकते हैं, जो सिर्फ ग्रार्थिक मूल्यों के बारे में ही सोचते हैं, जो कला ग्रौर साहित्य द्वारा आत्मा को दिए जाने वाले भोज्य में कोई गुण नहीं देखते हैं, जिनकी खुशी ज्यादा-से-ज्यादा, किसी ग्रौसत चित्रों में जिसका शीर्षक 'ग्रक्टूबर, १९१७' या Lendemains qui Chantent' हो, है। सिमों की ग्रालोचना काफी तीव्र है, पर इसलिए तर्कसंगत है कि प्रचार को साहित्यिक लक्ष्य ग्रस्वीकारते हुए भी सार्त्र ग्रन्ततोगत्वा उसके पक्ष में चला जाता है, भले ही वह ऐसे लेखन के साहित्यिक नहीं शैक्षणिक महत्त्व पर जोर देते हुए पहुँचा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक मतभेद वाले लेखकों (जैसे अंग्रेज लेखक फिलिप टॉयन्बी) ने सार्त्र की प्रतिबद्धता का इसलिए विरोध किया है कि शुरू में उसने साम्यवादी संस्कृति के अधिकारियों की औंडी घातक मतवादिता से इसे जो अन्तर दिया था, वह आज तिरोहित हो गया है। अब उसका अर्थ है उनके प्रति घृणा जिनकी राजनीति भिन्न है, श्रमिक वर्गों की प्रशंसा, सभी के समक्ष में आने वाला लेखन। फिलिप के अनुसार आज के लेखक को संपृक्त होना चाहिए, प्रतिश्रुत नहीं। लेकिन व्यवहारतः संपृक्त लेखकों की चिन्ताएँ भी समाजवाद विरोध या खोखले विद्रोह की रूढ़ियों में बँध जाती रही हैं।

इतालवी लेखक इग्नाज़िओ सिलोने प्रतिबद्धता को उन विषयों में मानता है जो १९४५ की समस्याओं के प्रसंग में ही विचारणीय थे। उसके अनुसार अब वह परिदृश्य जो उस समय के साहित्यिक जीवन से सम्बद्ध था, धूमिल-सा हो गया है; 'प्रतिबद्धता' वाला सिद्धान्त काफी पुराने फिनोमिना तक जाता है, पर सार्त्र को इसका श्रेय है कि उसने इसे एक विस्तार, एक अर्थ, और एक विशिष्ट अनुनाद दिया। प्रतिबद्धता को लेकर लोग पहली गलती तो यह करते हैं कि इसे एक अनिवार्य सेवा जैसा मान लेते हैं और परिणाम में जो प्रतिबद्ध नहीं हैं उनके प्रति निन्दा अपनाते हैं। दूसरी बात यह है कि अधिकांश प्रतिबद्ध लेखक आदर्श, निरपेक्ष सत् या सुन्दर को एक संस्था से तदाकार कर देते हैं—साहित्य के प्रयोजन को पार्टी, चर्च या राज्य से जोड़ लेते हैं। सिलोने प्रतिबद्धता का एक वैयक्तिक कर्म के रूप में समर्थन करता है, जिसका अर्थ है उन कलाकारों के प्रति सम्मान जो ऐसी प्रतिबद्धता नहीं चाहते और इसका अर्थ है उनकी कृतियों पर उन कलाकृतियों से बाहर के प्रतिमानों से निर्णय का अस्वीकार। प्रतिबद्धता की यह धारणा मुक्त-संस्कृति की स्वायत्तता के प्रति उचित आदर माँगती है। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक स्तर पर प्रतिबद्ध लेखक को अपने आदर्श को किन्हीं संस्थाओं से कभी न जोड़ने की हिदायत भी वह देता है। जो लेखक धर्म से, समाजवाद से, और स्वतंत्रता से प्रेरित हैं; वे अपने आपको चर्च, रूस और अमरीका से तादात्म्य में डालकर गलती करेंगे। उसके अनुसार सार्त्र ने यही गलती की, इसलिए १९५६ में उसे रूस से और फ्रांसीसी साम्यवादियों के रूस-समर्थन से आघात लगा। सिलोने की सारी आपत्तियाँ असंगत हो जाती हैं, यदि हम सार्त्र के आचरण को लें। उसने साम्यवादियों की सहगामिता चुनकर भी रूसी यातना-शिविरों का (ख्रुश्चेव के स्टालिन पर पर्सनैलिटी कल्ट चलाने के आरोप से पहले ही). १९५६ में हंगरी पर आक्रमण और १९६८ में चेक लोगों के दमन का विरोध किया। लेकिन ऐसे विरोध को रूस से शत्रुता या समाजवाद से घृणा (जैसा कि अनेक भूतपूर्व व तथाकथित मोह-मुक्त साम्यवादियों ने आचरण किया) जैसे कामों से बुनियादी तौर पर अलग देखना होगा। सार्त्र ने यद्यपि साहित्य-रचना को सर्वगम्य बनाने की बात कही, पर उसने न स्वयं कभी प्रचारात्मक साहित्य लिखा और न अच्छे आधुनिक प्रयोगनिष्ठ लेखकों का महत्त्व कम करके आँका। स्वतंत्रता को चरम मूल्य स्वीकारने वाले लेखक द्वारा किसी संस्था से स्वयं का तादात्म्य कर लेने का प्रश्न ही नहीं उठता— वह हर मौके पर अन्याय के विरोध में रहेगा। प्रतिबद्धता को वैयक्तिक स्तर पर कर्म मानने पर लेखक के मानवीय दायित्व का प्रश्न सर्वथा आत्मगत हो जाता है। सार्त्र के बाद के अतिरेकी आग्रहों (क्रान्तिकारी देशों में शैक्षणिक-कर्म) को छोड़ दें तो प्रतिबद्धता काफी समय से चले आए एक पेचीदा सवाल का (युद्धकालीन वातावरण में) देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष में योगदान देने वाले ऐसे लेखक का उत्तर है जो आज भी संगत है और किसी-न-किसी रूप में आगे भी रहेगा।

प्रतिबद्धता सम्बन्धी सार्त्र और कामू की अवधारणाओं की तुलना से सार्त्र के चिन्तन और कर्म की सुसंगता और स्पष्ट होकर आती है। वह मानता है कि कलाकार के रूप में किसी को दुनिया के मामलों में दखल देने की ज़रूरत नहीं है, पर मनुष्य के रूप में निश्चय ही है। लेकिन यदि हम आदमी के रूप में हस्तक्षेप करते हैं तो उसका असर हमारी भाषा पर होगा ही : "मैंने अनुदिन लेख और पुस्तकें इसलिए नहीं लिखी हैं, मैंने सर्वनिष्ठ संघर्षों में इसलिए भाग नहीं लिया है कि मैं दुनिया को ग्रीक प्रतिमाओं और श्रेष्ठ कृतियों से पाटना चाहता हूँ... अपने शुरू के लेखों से आखिरी किताब तक मैंने काफी और शायद ज्यादा भी, इसीलिए लिखा है कि मैं रोजमर्रा की ज़िन्दगी की तरफ उन लोगों की तरफ, जो चाहे जो भी हों, तिरस्कृत और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लांछित हैं, खिंचने से अपने को रोक नहीं सकता ।" खान के शोषित या गोली खाए खनिक, शिविरों के अन्दर के गुलाम, उपनिवेशों के लोग, संसार भर के उत्पीड़ितों के दल—ये सब उनकी अपेक्षा में हैं जो उनके मौन को संप्रेषित करने के लिए बोल सकते हैं और उनसे संपर्क कर सकते हैं। कला का लक्ष्य संस्कृति का निर्माण है : "अपने आप में कला उस पुनर्जागरण को जन्म नहीं दे सकती जिसमें न्याय और स्वतंत्रता अन्तर्निहित हो, लेकिन कला के बिना वह पुनर्जागरण सौन्दर्यरहित और परिणामतः कुछ नहीं होगा। बिना संस्कृति और उससे सापेक्ष स्वतंत्रता के, समाज यदि वह पूर्ण भी हो, सिर्फ जंगल है। इसीलिए कोई भी प्रामाणिक सृजन भविष्य के लिए एक उपहार है।" कामू लेकिन अपनी पक्षधरता को या तो गवाह का रोल अदा करने में ही सार्थक मानता है या परम्परागत वामपक्षी के रूप में अन्याय, ज्ञान-विरोध और अत्याचार की शक्तियों का विरोध करना—हमेशा विरोध के पक्ष में रहना—ही उचित समझता है। इस निरपेक्ष विरोध का परिणाम यह हुआ कि शीतयुद्धग्रस्त व शिविर-विभाजित संसार में रूसी व्यवस्था की उसकी आलोचना पूंजीवादी 'मुक्त-समाज' के पश्चिमी राजनीतिक वकीलों की रूस से शत्रुता एवं समाजवाद से घृणा के निकट चली गयी और अल्जीरियायी-विद्रोह में वह अरबों-फ्रांसिसियों के बीच सहानुभूति में ढुलमुल होता रहा। सार्त्र ने, जो प्रतिरोध-आंदोलन में कामू की भूमिका को गौरवपूर्ण मानता है और जो उसकी 'अजनबी' व दूसरी कथाकृतियों की प्रशंसा करता है, उसके विचारों की इसलिए आलोचना की है कि कामू लड़ाई में अपना शामिल होना 'आदमी का विचार' बचाने के निमित्त मानता है, इतिहास बनाने के लिए नहीं। इसका अर्थ है कि युद्ध के बाद कामू 'यथास्थिति' के लिए लौट गया है—उस निराशा की ओर जिससे आदमी को खुशी निकालनी है, उस असह्य नियति की ओर जिसके प्रतिकूल आदमी को बिना आशा के लड़ना है—उस विद्रोह की ओर जो मृत्यु के विरुद्ध है; उस सामाजिक स्थिति के प्रति नहीं है, जो मृत्यु की संख्या बढ़ाती है। कामू को सम्बोधित करते हुए वह कहता है—"यदि एक बच्चा मरे तो तुम सृष्टि की विसंगति को दोष दोगे...लेकिन बच्चे का बाप, जो एक बेकार कामगार या बेहुनर हुआ तो, आदमियों को दोष देगा। वह अच्छी तरह जानता है कि हमारी स्थिति की विरूपता पासी और बिलेनकोर्ट में समान नहीं है।" और "आज मामला यथास्थिति को बचाने का नहीं, उसे बदलने का है। इस कार्य को अधिकृत गारंटियों के बिना तुम स्वीकारोगे नहीं। और मैं सोचता हूँ कि तुम्हारे साथ मैं भी इतिहास को कीचड़ और खून का तालाब मानता, मैं भी ऐसा ही करता और गोता लगाने के पहले दो बार सोचता। लेकिन सोचो यदि मैं पहले ही इसमें हूँ। मेरी निगाह में तुम्हारी हिकारत भरी चुप्पी भी तुम्हारी इतिहासवादिता का प्रमाण है। सोचो तुम्हें कोई मार्क्स के जैसा जवाब देता 'इतिहास कुछ नहीं है...असली और जीता आदमी ही है जो सब कुछ करता है'...अगर तुम कहते हो कि यह दुनिया अनुचित है तो तुम खेल हार चुके हो...अपनी प्रतिश्रुतियों के कार्यान्वियन के लिए हर प्रयास में, अपने साथियों का भार फिर बाँटने की हर चेष्टा में, अनुशासन में स्वयं को रखने या उसका उपयोग करने के हर उद्योग में तुम्हें न्याय खोजना होगा।"

सार्त्र ने फासिस्ट शक्तियों और प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष में लेखक की भूमिका का अन्वेषण करते हुए लेखक के सामाजिक दायित्व के बारे में आधारभूत और युगसापेक्ष प्रश्नों का साक्षात्कार किया है। प्रतिबद्धता का आग्रह मानवीय अस्तित्व को ही संकट में डालने वाली स्थितियों की निरन्तर संभावना और न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों के बलपूर्वक दमन की विद्यमानता के कारण जहाँ युग-संदर्भ पाता है, वहीं मनुष्य-मनुष्य के बीच दायित्वयुक्त सहगामिता का आधारभूत प्रसंग लाता है। सार्त्र साहित्य को शब्दों के साथ खेलने वाले आत्ममग्न का व्यापार नहीं मानता, वह लेखक को एक कर्मयोगी क्रान्तद्रष्टा मानववादी मसीहा देखना चाहता है। यह सच है कि मात्र प्रतिबद्धता के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्यात्मक-चेतना के बहुविध आयामों का संधान नहीं किया जा सकता, पर यह भी सच है कि कलात्मक सृजन को अवचेतनाप्रेरित अभिव्यक्ति और मानवीय अन्तरात्मा की एक विशिष्ट परितुष्टि के माध्यम तक सीमित करके नहीं रखा जा सकता; इसका सम्बन्ध संपूर्ण मनुष्य से है। सार्त्र ने प्रतिबद्धता के द्वारा साहित्य को मनुष्य के अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास के प्रयत्नों का अंग माना है।

पिछले दिनों प्रगतिशील लेखकों का दोष यह रहा कि उन्होंने साहित्य को विचारधारा के प्रचार का एक माध्यम भर बना दिया। एक वैचारिकवाद में जीवन की एक विशेष पद्धति का स्वीकार होता है, निश्चित प्रतिमान होते हैं जिनके आधार पर चुनाव और निर्णय लेकर कर्म को निर्दिष्ट किया जाता है। समाजवादी रुझान के लेखकों ने पूंजीवादी समाज में शासक-वर्ग के एक ही खास किस्म के विचारवाद को प्रतिष्ठित मानकर हर उस कला-साहित्य-प्रवृत्ति को पतनशील घोषित किया जो समाजवादी विचारधारा से सीधे सम्बन्धित नहीं थी। मार्क्स-एंगिल्स ने विचारवाद और संज्ञान में जो भेद किया था तथा लेनिन ने जिस विशेष संदर्भ में पक्षधरता का आग्रह किया था, उसे भुला दिया गया। फिर मार्क्स एंगिल्स-लेनिन किसी को भी अन्तिम प्रमाण कैसे माना जा सकता है! नए अनुभवों के प्रकाश में विचारधारा को नयी व्याख्या या नये संस्कार की माँग से जोड़ा रखा जाना चाहिए। अब हम जान गए हैं कि पूंजीवादी समाज में शासकीय विचारधाराएँ अमरीकी प्रजातंत्र और नाज़ी जर्मनी का अन्तर लिए हो सकती हैं और जरूरी नहीं है कि सभी शासित शासकीय विचारधारा को स्वीकृति देते हों। बिना घोषित क्रान्तिकारी हुए और शुद्ध कलावादी रहते हुए भी कोई लेखक बुर्जुआ नैतिकता तथा व्यवहार-दर्शन का प्रकट या प्रच्छन्न विरोधी हो सकता है। यह सही है कि पूंजीवादी समाजों में, जिनमें विचारवाद के स्तर पर धनाधिकार की मान्यता व्यक्ति के आधारभूत अधिकार के रूप में है, सन्देहवाद निराशावाद, नास्तिवाद का उपयोग, वास्तविक विद्रोह की चेतना को कुंठित करने के लिए अवशोषक-प्रभाव के रूप में, किया जाता है; पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सन्देहवादी-निराशवादी-नास्तिवादी कलाकार अनिवार्यतः पतनशील होता है। और जब तक साम्यवादी-समाजों में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को बुनियादी हक की तरह नहीं पाया जाता, लेखक-कलाकार पूंजीवादी व्यवस्था से असंतुष्ट होकर भी समाजवादी समाज के विकल्प के प्रति शंकाशील रहेंगे ही। कुछ यूरोपियन प्रकृति के साहित्यकारों ने ... जलाए रखा है कि समाजवादी भविष्य मौजूदा व्यवस्थाओं से बड़ा है और उसकी ओर नये साधनों व नये सपनों को लेकर बढ़ा जा सकता है।

यह बताते हुए कि जिस प्रकार संज्ञान होने के कारण विज्ञान वैचारिकवाद नहीं है उसी प्रकार यथार्थ का संज्ञान होने की सीमा तक कला भी विचारधारा के क्षेत्र में नहीं आती। अर्न्स्ट फिशर कहते हैं कि "इस मन्तव्य का अर्थ यह नहीं है कि कलाएँ, अपनी प्रकृतिगत विशेषता से विचारवाद नहीं हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि वे विचारधारा से अप्रभावित होती हैं या पूर्ण स्वायत्तता लिए हुए चलती हैं...कलाकार अपने काल के विचारों, पूर्वाग्रहों, मूल्यधारणाओं यानी विचार-वादिता से अछूता स्वाधीन रचनाकार नहीं होता। उसका समय उसे गतिमान करता है, बनाता है, विकसित करता है: लेकिन एक कलाकार के रूप में वह समय का अनुभव विचारधारा की छलनी से नहीं करता, अन्तर्हित वास्तविकता को देखने में वह समर्थ होता है और इसलिए उसे वह एक स्थिति के रूप में ग्रहण करता है, प्रक्रिया के रूप में नहीं। उसकी संवेदना अनुकूलन या प्रतिबन्धन की पर्तों को तोड़ आगे जाती है......साहित्य और कला की शक्ति फार्मूले में नहीं, रूप में है; उसकी सामर्थ्य की पहचान नये नियम बनाने में नहीं है पर संघर्ष के माध्यम से विकसित नये यथार्थ को खोजकर नये नियमों के लिए जमीन तैयार करने में है। साहित्य और कलाएँ जितना अधिक हमारे युग के संघर्षों में संलग्न हों, उतना कम उन्हें एक विचारधारा का ही निदर्शन बनना चाहिए। किसी राजनीतिक दल या राज्य द्वारा वास्त-विकता को विहित (prescribe) नहीं किया जा सकता। सामाजिक आशय से रहित होकर जहाँ कला सत्त्वरहित हो जाती है, वहीं स्वतंत्रता से वंचित होने पर अन्धी, बहरी और गूंगी हो जाती है।"

सोवियत संघ ने अभी तक लेखकीय स्वाधीनता को यथोचित मान न देकर सत्ताधारी वर्ग की—वह भले ही समाजवादी हो—सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को अपने हित में नियोजित करने की प्रवृत्ति को तो प्रकट किया ही है, क्रान्तिचेता साहित्य के विकास को एक हद तक अवरुद्ध भी किया है। स्तालिनकालीन व्यक्तिपूजा-पंथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की समाप्ति से जो ग्राशाएँ जगी थीं, वे ग्रब भी पूरी तरह सफल न हो सकीं। सोवियत रूस के इतिहास से पुलिस-ग्रातंक, ग्रकारण गिरफ्तारी, ग्रपराधी-शिविर, और ग्रमानुषिक दमन के ग्रध्याय को नहीं निकाला जा सकता; जो किया जा सकता है वह यह कि 'इवान-इेनिसोविच' (सॉल्झेनित्सीन) की ग्रावाज को सुना जाए। कायदे से लेखकों-कलाकारों के लिए समाजवादी व्यवस्था काम्य होनी चाहिए, उनका दमन समाजवादी संसार के ग्रपने लिए खतरनाक है—लेखकों ग्रौर कलाकारों की स्वतन्त्रता का समर्थन दायित्वहीन लेखन की वकालत नहीं है, लेकिन मौजूदा हालतों में किसी प्रकार के नियंत्रण की न्याय-संगतता प्रस्तुत करना विद्यमान कुरूपता के कारण बेमानी हो जाता है।

मानववादी ग्रादर्श को लेकर चलने वाला लेखक यीरी हाएक के शब्दों में "मिथ्या मिथकों को नष्ट करता है, उसका लक्ष्य मानवता के बुनियादी मूल्यों की स्थिति का विश्लेषण है, वह उस सबके निरन्तर विरोध में, जिसके द्वारा ग्रादमी को भाग्य ग्रौर इतिहास का खिलौना बनाया जाता है, मानवीय दायित्व-चेतना को, वैयक्तिक तथा ऐतिहासिक धरातल पर, संचालित करता है।" ग्राज की दुनिया में ग्राक्रोश-भावापन्न लेखकों की कमी नहीं है ग्रौर ग्रपने ढँग से वे मनुष्य के ग्रमानवीकरण की शक्तियों का राज खोलते हैं, पर उन शक्तियों के विरुद्ध लड़ने का बल प्रतिबद्ध लेखक ही दे सकते हैं। यह प्रतिबद्धता लेखक द्वारा स्वेच्छा-गृहीत होनी चाहिए ग्रौर उसके ग्रतिरिक्त किसी ऊँची ताकत से नियंत्रित नहीं होनी चाहिए। साथ ही प्रतिबद्धता ग्रपने-ग्राप में सौन्दर्यात्मक प्रतिमान नहीं है, कला-चेतना से जुड़कर ही वह मूल्य बन सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो दशकों का छठा महत्त्वपूर्ण उपन्यास : धूपछाँही रंग

राजेन्द्र यादव

लेखन, समय के एक विशेष संदर्भ में ही होता है। किन्हीं रचनाओं में वह कथ्य के भीतर तक संक्रमित हो आता है और किन्हीं में केवल रचनाकार तक ही रह जाता है—लेकिन रचना कभी उससे अछूती नहीं रह पाती। उसके माध्यम से उभरने वाली दुनिया इतनी अधिक परिचित और कालांकित होती है कि उसका सृजन किन्हीं विशेष परिस्थितियों के तनाव और द्वन्द्व में ही संभव है। ये रचनाएं, विशेषरूप से उपन्यास, अपने समय के दस्तावेज़ कहलाने के हक़दार हैं। वे ऐतिहासिक नहीं होते, लेकिन अपने समय का सीधा साक्षाकार करने, वर्तमान के तनाव और टकराहटों को झेलने की शक्ति के कारण ही ऐतिहासिक महत्त्व ज़रूर पा लेते हैं। "नदी के द्वीप" द्वितीय महायुद्ध या स्वतंत्रता से दस-बीस साल पहले या बाद में कभी भी लिखा जा सकता था, लेकिन "अन्धायुग" केवल और केवल इन घटनाओं के बाद के भारत में साँस लेते हुए ही लिखा जा सकता है। कभी-कभी मुझे लगता है कि इतिहास या पुराण जैसी कोई चीज़ नहीं होती—होता है केवल अपना ही वर्तमान। और इसी वर्तमान के विभिन्न दबाव, तनाव रचना में अभिव्यक्ति पाते हैं। विवरण, चरित्र और चौखटे हम किसी भी काल या देश-खंड के ले लें, लिखते अपने समय का और अपना ही इतिहास हैं। समय, इतिहास और कोण के चुनाव में कहीं अपने संदर्भ ही पीछे काम करते हैं। वाण के बहाने अपनी आत्म-कथा लिखने का मोह न होता तो क्या श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी "वाणभट्ट की आत्मकथा" को इतने प्रामाणिक और कलात्मक स्तर पर अपनी रचनात्मक ऊष्मा दे सकते थे?

मैं नहीं कहता कि आपसी सम्बन्धों—विशेषकर नारी-पुरुष के सम्बन्धों के बीच—समय यों सीधे बैठा रहता है कि बिना सामाजिक घटनाओं और ब्योरों का हाशिया दिये उन्हें समझा ही नहीं जा सकता। नहीं, वहाँ समय से ऊपर और अलग बने रहने का भ्रम भले ही बना रहे—मगर रचनाकार की पूरी दृष्टि को निर्धारित और अनुकूलित करने में कहीं-न-कहीं समय रहता ज़रूर है। काफ़्का की अधिकांश कहानियों में "समय" नहीं है, लेकिन वे काफ़्का के अपने व्यक्तित्व से गुज़रते हुए एक विशेष समय की ही रचनाएं निश्चय हैं। "चित्रलेखा" की पाप-पुण्य की समस्या, द्वितीय महायुद्ध से पहले के युवक की नैतिक-अनैतिक मान्यताओं के द्वन्द्व और पुनर्परीक्षण की समस्या है—बीजगुप्त और कुमारगिरि तो वहाँ निहायत ही अप्रासंगिक हो जाते हैं। "सुनीता" का हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी होता या न होता, लेकिन उपन्यास का मूल-कथ्य—सुनीता और हरिप्रसन्न के सम्बन्ध, केवल युद्ध से पहले के भारतीय मध्यवर्गीय समाज की ही उपज थे और आज प्रयत्न करने पर भी सुनीता नहीं लिखी जा सकती—आज "दूसरी बार" (श्रीकान्त वर्मा) और "एक पति के नोट्स" (महेन्द्र भल्ला) ही लिखे जा सकते हैं।

नेमिचन्द्र जैन की तरह "साक्षात्कार" शब्द को जादू की छड़ी बना सकना मेरे लिए कठिन है। कब मूड और पसंद के हिसाब से उन्हें किसी रचना में साक्षात्कार हो जाता है और कब वह अधूरा रह जाता है, इसका पता सिर्फ उन्हें ही होता है। चूंकि उनके कथा-संस्कार मूलतः रोमानी और छायावादी हैं, इसलिए उनका साक्षात्कार प्रायः नारी-पुरुष के सम्बन्धों की तरल गहराइयों और ज़रीदार भाषा में ही संभव है। ज़िन्दगी और परिवेश की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चाइयों से सीधे जुड़ी रचनाएँ उन्हें प्राय: ही सतही लगती हैं। कभी प्रगतिवाद से सम्बद्ध होने का प्रायश्चित उन्हें प्राय: हर उस रचना को सतही कहने को मजबूर कर देता है जो अपने समय का सीधा साक्षात्कार करती हैं। कवि, अमूर्तताओं में जाकर केवल पीड़ा और दर्द पर कविता लिख सकता है, लेकिन कथाकार क्या करे, जिसे इस पीड़ा के साथ-साथ उसे पैदा करने वाले सारे विस्तार और संदर्भों की संगति भी चाहिए। अपनी और परिवेश की जिन सच्चाइयों को वह भोगता है, वहीं से उसके सरोकार और लगाव की यात्रा शुरू होती है।

और इसी दृष्टि से मुझे गिरीश अस्थाना का "धूपछाँही रंग" इन दो दशकों में छठा महत्त्वपूर्ण उपन्यास लगता है। बिना किसी छद्म-विनम्रता के, संयोग से शेष पाँच उपन्यासों में सबसे पहला उपन्यास मेरा अपना ही है—"उखड़े हुए लोग" नयी और पुरानी पीढ़ी के समानान्तर संघर्ष में उसमें जिस एम० पी० का चित्रण है, वह व्यक्ति इन पन्द्रह वर्षों में भारतीय समाज का निरन्तर महत्त्वपूर्ण चरित्र होता गया है। जटिल और ढोंगी वह तब भी था, लेकिन आज शायद और भी घूर्त, संश्लिष्ट और प्रभावशाली हो गया है। "उखड़े हुए लोग" के देशबन्धु का दानवीय व्यक्तित्व भारतीय जनतंत्र पर और भी बड़ा, भारी और आक्रामक होकर छा गया है। शस्य-श्यामला भारत-माता के ग्रामांचल को विस्तार और संवेदना के साथ "मैला आंचल" में ही पहली बार रक्खा गया था और एक उजड़ते हुए शहर—लाहौर—और एक बनते हुए शहर, दिल्ली की यातनाओं को ईमानदारी से पकड़ने की कोशिश "झूठा-सच" में की गयी थी—गोकि वह अपने अखबारी विस्तार में भटक जरूर गया है जगह-जगह। "आधा-गाँव" और "राग-दरबारी" अपने-अपने भावनात्मक और लगाव-भरे क्षोभ के साथ आस-पास के यथार्थ को सामने रखते हैं और इसी क्रम में है "धूप-छाँही रंग।"

यहाँ मैं फिर ज़ोर देकर कहना चाहूँगा कि ये वे उपन्यास हैं जो केवल आज के 'स्वतंत्र-भारत' में ही लिखे जा सकते थे। गहरी सम्पृक्ति और यातना के साथ भाषा और शिल्प के संतुलित अधिकार के बिना इनकी रचना शायद संभव नहीं थी। और यह सब लिखते हुए मेरे सामने वे सारे 'अद्वितीय' उपन्यास हैं जो तीस-तीस साल के लेखनाभ्यासी धाकड़ों ने लिखे हैं और जिन्हें एकादमी और दूसरे पुरस्कारों की दयनीयताएँ प्राप्त हैं। "राग-दरबारी" को छोड़कर इनमें से किसी को भी यह सरकारी सदन पाने का फ़ख़्र हासिल नहीं है। क़ायदे से होना "राग-दरबारी" को भी नहीं चाहिए...एकादमी की उदारता शायद "धूपछाँही रंग" को भी समेटे...बहरहाल, इस प्रकार की मान्यताएं हमेशा साहित्येतर होती हैं और ये उपन्यास केवल अपनी भीतरी शक्ति से ही जीवित रहे हैं।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा, अपना निजी व्यक्तित्व हुए बिना विश्व-व्यक्तित्व जैसी कोई चीज़ नहीं होती, उसी तरह बिना अपने समय को पकड़े समय से ऊपर उठने की सम्भावना कोई कभी नहीं रही। उपन्यास के भीतर से उभरनेवाली दुनिया ही "धूपछाँही रंग" को विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण, सार्थक और समकालीन बनाती है। वह अपने औपन्यासिक रूप में ऐसे भारत की तस्वीर है जो स्वतंत्र होने से पहले, चाहने-न-चाहने के बावजूद एक भयानक महायुद्ध में झोंक दिया गया था और उसके बाद व्यवसाय के बड़े-बड़े गिद्धों ने उसे लपक लिया। यों, उसका एक हिस्सा तभी स्वतंत्रता के संघर्ष में लगा था...जैसे आज प्रजातंत्र और समाजवाद लाने में लगा है। मगर उस समय, निर्णायक शक्तियाँ सरकार के हाथों में थीं, आज वे उद्योगपतियों के हाथों में हैं। चौथे और पाँचवें दशक की अधिकांश नयी पीढ़ी, मन में गुलामी के प्रति आक्रोश रखते हुए भी द्वितीय महायुद्ध की लपेट में आ गयी थी। मुझे याद है उस समय उत्तर-प्रदेश के गाँव-गाँव में ज़बरदस्ती भरती हुआ करती थी और जिस गाँव के लोग रंगरूटों का अपना कोटा नहीं दे पाते थे उनकी ज़मीनें, फ़सलें कुर्क हो जाती थीं। विद्यार्थी-जीवन में 'स्वतंत्रता' करने वाले नौजवान पढ़-लिखकर भरती के दफ़्तरों की तरफ़ भागते थे...बारह और पन्द्रह रुपये पाने वाले मास्टर का लड़का सैकण्ड लैफ़्टिनैण्ट होकर ढाई-सौ रुपये लाता था...सारा मध्यवर्ग तब मलेशिया, मारकीन और राशन पर उतर आया था। चीनी, कपड़ा और मिट्टी के तेल की जुगाड़ सारे अस्तित्व पर हावी हो गयी थी। खादीवालों से अलग तब देसी नवयुवक ने पहली बार खाकी बुश्शर्टें, पैराशूट की कमीज़ें मुक्त-हस्त लुटातेअम रीकनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पैसे ग्रौर ग्रंग्रेज़ी फ़िल... ...हर गाँव ग्रौर घर-मुहल्ले का कोई-न-कोई नौजवान किसी-न-किसी मोर्चे पर लड़ने को मजबूर था। यूरोप ग्रौर जापान में लड़े जाने वाले इस युद्ध के किस्से तो बहुत ग्राये, लेकिन बाहर युद्ध के मोर्चों पर इस नौजवान के साथ क्या बीत रही थी, इसका एकमात्र उपन्यास मैंने बारेन बसु का "रंगरूट" पढ़ा था।

इसलिए "धूपछाँही रंग" को ही शायद इस बात का श्रेय है कि 'उसने कहा था' कहानी के बाद यह हिन्दी कथा-साहित्य में, मध्य-एशिया ग्रौर यूरोप की सरहदों पर लड़नेवाले युद्ध का वृहद् ग्रौर प्रामाणिक चित्र हमारे सामने रखता है। प्रमुख रूप से है मैडिट्रेनियन सागर के आस-पास का युद्ध-क्षेत्र। ग्रंग्रेज़ों और देसी ग्रफ़सरों के द्वन्द्व, लड़ाई की व्यर्थता, चापलूसी ग्रौर तटस्थता, संत्रास ग्रौर ज़िजीविषा—कहीं दूर पीछे जुड़ा, या छूटा हुग्रा घर...शहनाज़ का प्यार ग्रौर साथ ग्राये मृणाल की बाँसुरी यानी भीतर कलाकार होने का सपना, युद्ध की कठिनाइयाँ ग्रौर ग्रपमान...रेगिस्तानों और सागर-तट के पहाड़ी लैण्डस्केप, टैंक ग्रौर गोले...

चित्रकार सुकान्त के माध्यम से कहा गया यह (ग्रात्मकथात्मक) साढ़े-सात सौ बड़े पन्नों का उपन्यास दो-तरह की लड़ाइयों में ग्राधा-ग्राधा बँटा है। एक लड़ाई जो सुकान्त को भूमध्य सागर के आस-पास लड़नी पड़ी ग्रौर दूसरी लड़ाई कलकत्ते के एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान की मंजिल-दर-मंज़िल इमारत में हुई। यहाँ खाइयाँ ग्रौर तम्बू, जीपें ग्रौर ट्रक नहीं थे, यहाँ थे एयर-कण्डीशण्ड चैम्बर्स, होटलों के बूफे ग्रौर ड्रिंक-पार्टियाँ, फ़ाइलें ग्रौर ग्रखबारी संवाददाता...चित्रकार बनने के सपने देखने वाला सुकान्त लड़ाई में चला गया, लौटकर ग्राया तो शादी कर ली। चित्रकारी का शौक चलता रहा। जोड़-तोड़ करके एक प्रदर्शनी की ग्रौर यहाँ परिचय हुग्रा श्री जौहरी से। जौहरी ग्रपने प्रतिष्ठान की पब्लिसिटी ग्रौर पब्लिक-रिलेशन्स के लिए उसे कलकत्ते ले गये। फिर एक दिन उस मोर्चे से भी वह लौट ग्राया। कहानी बहुत छोटी है, महत्त्वपूर्ण भी नहीं है। महत्त्वपूर्ण है वह दुनिया ग्रौर परिवेश जो कथा के माध्यम से सुकान्त के ग्रास-पास उभर ग्राता है। या जिसमें रहने को वह मजबूर है, लेकिन हिस्सा नहीं बन पाता। देश का भाग्य-नियंत्रण करनेवाले इन व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के भीतरी पैंतरे, डायरेक्टरों और अफ़सरों की गला-काट होड़, दफ़्तरी षड्यंत्र...ग्राज की ज़िन्दगी का वह पक्ष भी ग्रपने उसी विस्तार से 'धूप-छाँही रंग' में है जितने विस्तार से युद्ध-क्षेत्र का वर्णन... ग्रौर यह भी शायद हिन्दी में पहली बार...

कहना बहुत जरूरी है कि 'हिन्दी में पहली बार' के नाम पर किन्हीं ग्रनजाने, ग्रनखोजे प्रदेशों और सभ्यता-भूगोल का वर्णन ही सबसे बड़ी तुरुप नहीं होती, देखना यह भी है कि वह सब हमारी ग्रपनी ज़िन्दगी की कितनी बड़ी सचाई है ग्रौर वह कहाँ-कैसे हमारी स्थितियों ग्रौर नियतियों का नियंत्रण करती है। यह श्रेय तो गिरीश ग्रस्थाना को देना ही होगा कि उन्होंने एक बहुत ही परिचित परिवेश के ग्रनछुए भाग को साधिकार प्रस्तुत किया है।

उपन्यासलेखक, विशेषकर इस प्रकार के डबल-डैकर उपन्यास के लेखक के सामने दो उत्तरदायित्वों की चुनौती होती है। एक ओर तो उसे इस प्रकार के ग्रपरिचित लगने वाले जीव-खण्डों को हमारे लिए परिचित कराना होता है ग्रौर दूसरी ग्रोर परिचित क्षेत्रों के ग्रपरिचित ग्रनुभव-स्तरों, कोणों की खोज करनी पड़ती है। यह दूसरा कार्य अधिक कठिन ग्रौर तीव्र रचनात्मक क्षमता की ग्रपेक्षा करता है। प्रस्तुत उपन्यास मुख्य रूप से पहली प्रकार का है। लेकिन ग्रपरिचित जीवन-खण्डों के नाम पर ग्रनजाने लोकों ग्रौर भूगोल-इतिहास के 'उपेक्षित' क्षेत्रों की जानकारी देने की विमलमित्रीय बेगार ग्रौर व्यावसायिकता ग्रस्थाना ने नहीं ढोयी है। यह सही है कि कई जगहों पर सूचनात्मक विस्तार में जाने का मोह गिरीश अस्थाना में भी है, लेकिन इसका कारण सारे ग्रनुभवों को एक ही रचना में समेट लेने की अधीरता ग्रधिक है। वैसे ये क्षेत्र हमारी चेतना या परिवेश के तात्कालिक ग्रंग हैं ग्रौर यही उनकी सबसे बड़ी ग्रौपन्यासिक उपलब्धि है। इन क्षेत्रों पर लेखक का प्रामाणिक ग्रधिकार है। वह उसका भोगा हुग्रा यथार्थ है। शायद यह इन छहों उपन्यासों की सामान्य विशेषता है।

"भोगा हुग्रा यथार्थ" ग्रौर "विषय पर ग्रधिकार" बड़ी ही रपटीली ज़मीन है ग्रौर नियति के खिलौने गढ़नेवाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या त्रिकालज्ञ बाबाओं के चमत्कार दिखाने वाले या बंगाली अतिनाटकीयता के फ़ार्मूले ढालने वाले सारे लेखक "विषय पर अधिकार" का दावा ठोक सकते हैं। लेकिन "धूपछाँही रंग" के लेखक का विषय पर अधिकार उपन्यास को एक तीसरे स्तर पर विशिष्ट बनाता है—वह है कसाव, सन्तुलन और योजना-बद्धता। इतने वृहद उपन्यास में बिखराव जैसी कोई चीज़ नहीं है। बिखराव किसी रचना का दोष बिल्कुल नहीं है, बशर्ते कि उसके पीछे भी एक दृष्टि हो। ज़िन्दगी ऐसी सधी, सुथरी और सुनियोजित है भी कहाँ? लेकिन अपने फैलाव को समेट पाने का बिखराव हिन्दी सिनेमा की स्थिति पैदा करता है। किसी को मारो, किसी को पागल करो, किसी को विदेश भेज दो और किसी का हृदय परिवर्तन करके ठिकाने बैठा दो। कसाव, सन्तुलन और सफ़ाई प्रयोग-धर्मा साहित्य की विशेषताएँ नहीं हैं, वे परम्परा की परिणति और परिसमाप्ति के लक्ष्य हैं। गिरीश अस्थाना के इस उपन्यास को परम्पराबद्ध उपन्यास की उत्कृष्ट परिणति के रूप में लिया जा सकता है।

शायद यही कारण है कि गिरीश अस्थाना की यह स्थिति उन्हें एक अजीब-सी ठण्डी योजना-बद्धता और आत्मविश्वास देती है। उन्हें मालूम है कि कोई बात किस तरह कहनी है और कहाँ तक कहनी है। न कहीं सुकान्त में भटकाव है, न लेखक में। लेखक और नायक के सैनिक अनुशासन का ही यह प्रशिक्षण रहा होगा कि उन्हें अपने-अपने युद्ध-क्षेत्रों का पता है। यों सुकान्त अपनी पड़ोसिन शहनाज़ से प्रेम भी करता है, चित्रकार की छटपटाहट भी अपने भीतर पाता है, बेकार भी रहता है और कलकत्ते के जंगलों में भी छोड़ दिया जाता है—मगर उसकी सारी निर्माण-दृष्टि एक सैनिक की सधी और अनुशासित दृष्टि है। कहीं कुछ भी उसे डगमगाता या मजबूर नहीं करता...वह केवल धैर्यपूर्वक अपने निर्णय स्थगित करता जाता है। इसलिए हमेशा यह अहसास बना रहता है कि घटनाएँ उसकी ज़िन्दगी में नहीं, उसके आस-पास होती हैं। भीतर नहीं, बाहर ही घटती रहती हैं। और यहीं उपन्यास की सबसे बड़ी कमज़ोरी का स्रोत है—सुकान्त की कहानी सम्बन्धों की नहीं, संदर्भों की कहानी है। उसकी प्रेमिका शहनाज़, दोस्त जॉन, फिर मृणाल, पत्नी चपला, बेटा बबलू—नौकरियाँ और सारा परिवेश, सभी कुछ हैं, लेकिन सुकान्त उनका नहीं है, सिर्फ़ उनके बीच है—ये सब उनकी परिधियाँ हैं। वह चित्रकार भी है, लेकिन कलाकार की आत्म-केन्द्रितता का भी उसमें अभाव है। वह व्यवहार-कुशल, बुद्धिमान, मिलनसार और चतुर आदमी है। उसमें हिस्सेदार होने की ऊष्मा और टकराहट नहीं, एक तटस्थ और दर्शक का ठण्डापन है। निरपेक्ष और अनासक्त कहकर मैं उसकी इस कमज़ोरी को महिमान्वित नहीं करूँगा। यह उसी अनुशासित दृष्टि का दोष है जो उपन्यास को कटा-छँटा साफ-सुथरा जरूर बना देती है, लेकिन हर पात्र की सीमाएँ और गतियाँ भी निर्धारित कर देती है। गिरीश अस्थाना के पास निर्मल वर्मा जैसा भाषा और संवेदना का वह ऐश्वर्य भी नहीं है जो दर्शक और अजनबी होने के बावजूद सहभोक्ता का सायास भ्रम दे सके। यह अनुशासन उनकी भाषा तक को छाये हुए है। वह किसी हद तक सुथरी और सपाट भाषा है—व्याकरण-सम्मत, कोशानुमोदित लेकिन इकहरी और ठस—अश्क और राकेश की तरह।

"धूपछाँही रंग" का हर पक्ष शास्त्रीय दृष्टि से मुकम्मल और निर्दोष है और अनुभूति की नहीं, अनुभव-क्षेत्रों की अनुपेक्षणीय नवीनता और ताज़गी न होती तो मैं कह देता कि वह प्रेमचन्द-दीक्षित पुराने पाठकों का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। यही मर्यादा उपन्यास का सबसे बड़ा बन्धन भी है। बंगाल-दिल्ली से लेकर भूमध्यसागर के आसपास फैले इस उपन्यास में रचनात्मक खुलाव का वैसा ही अभाव है जैसा सुनियोजित, सुविचारित और सुगठित उपन्यासों में होता है। यानी मॉम, जॉन मास्टर्स जैसों के उपन्यास जिस अभ्यास-जन्य सुथरेपन का आभास देते हैं, वह "धूपछाँही रंग" में भी है। चूंकि हमारे यहाँ ऐसे कटे-छटे उपन्यास भी नहीं हैं, इसलिए इसे स्पृहणीय ही माना जा सकता है। अनुभव-समृद्धि और निर्दोष-गठन के लिए "धूपछाँही रंग" निश्चय ही हिन्दी के गिने-चुने वैल-रिटन उपन्यासों में से है। अपने को पूरी तरह उण्डेल देने का मुक्त अहसास चाहे यह न कराये, लेकिन बहुत कुछ कह डालने का संतोष जरूर देता है। और इसके लिए आवश्यक कलात्मक स्पर्श—गिरीश अस्थाना के पास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—शहनाज़ का किशोर-प्यार और अपनी चित्रकारी का शौक सुकान्त को लड़ाई के मैदान में भी संवेदनशील बनाये रखते हैं—वहाँ साथ है मृणाल की बाँसुरी...एक दिन बाँसुरी चुप हो जाती है, शहनाज़ पाकिस्तान के तूफ़ान में खो जाती है और जीते हुए युद्ध के हारे हुए सिपाही, सुकान्त और शरीफ़ुद्दीन...या बचपन में साथ-साथ भटकने, क़ब्रिस्तान में भाँग पीने वाला, विवेकानंद और गांधी का शैदाई भारतीय इंग्लोइण्डियन जॉन एक दिन महसूस करता है कि यह जगह उसके लिए नहीं है...यहाँ उसका कोई भविष्य नहीं है ! उसे इंगलैण्ड चले जाना चाहिए और अपने अतीत को कटा हुआ हाथ सौंपकर जॉन सपरिवार प्लेन में जा बैठता है...शरीफ़ुद्दीन, सुकान्त और जॉन तीनों लगभग यही महसूस करते हैं कि यह जगह उनके लिए नहीं है । शरीफ़ुद्दीन ने बेटी खोयी, जॉन ने हाथ खोया...पाया केवल सुकान्त ने एक नया विश्वास कहीं और जाने का । उसका यह विश्वास आरोपित है और इसलिए वह नक़ली लगता है...देश के जिस भी भाग में सुकान्त जायेगा, क्या वहाँ की दुनिया बहुत अलग होगी ? इसलिए सारे आशावाद के बावजूद सुकान्त अकेला ही रह जाता है...चमक-दमक, झूठ-फ़रेब जालसाज़ी के सागर में चपला-बबलू के साथ अपनी आशा और आस्था के तख़्ते को सीने से चिपकाये...

गिरीश अस्थाना की यथार्थपरक निगाह की तारीफ़ किये बिना बात अधूरी रह जायेगी । चाहे वे देश-विदेश के लैण्डस्केप्स हों या जौहरी और डण्डास्वामी की एक-एक हरकत, चाहे काले-गोरे अफ़सर हों या भारतीय कम्पनियों के डायरेक्टर, अपने साथी, पत्रकार और विदेशों से आये डैलिगेशन...उनकी निगाह से छूटता कुछ नहीं है और यहीं सुकान्त का चित्रकार होना सार्थक है, वरना वह चित्रकार न भी होता तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता । बल्कि चित्रकार की अपेक्षा उसका फ़ोटोग्राफ़र होना अधिक सोद्देश्य होता। जिस तरह उपन्यास में सम्बन्ध नहीं, संदर्भ हैं उसी तरह इसमें औरतें अनेक हैं, नारी एक भी नहीं...रूमानी शहनाज़ और छायावादी चपला को छोड़कर सुगठित, सुनियोजित उपन्यासों की परम्परा को विदाई के साथ-साथ "अन्तिम दीपशिखोदय" इस उपन्यास का स्वागत...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति, मानव कर्तृत्व की व्याख्या*

संगमलाल पाण्डेय

प्रस्तुत रचना एक छोटी पुस्तिका है जिसमें लेखक ने संस्कृति का विवेचन मानव कर्तृत्व की व्याख्या के रूप में करने का दावा किया है। उसने लिखा है कि 'सामाजिक अनुभव को ही संस्कृति कहते हैं' (पृ० १५), 'किसी संस्कृति के जीवन-दर्शन को संस्कृति का ज्ञातृत्वाभिमान कहते हैं' (पृ० ४२), इसी 'ज्ञातृत्वाभिमान में संस्कृति का एकत्व या अधिष्ठान होता है' (पृ० ४३), और भाषा, पौराणिकता, प्राकृतिक विज्ञान, नीति और अर्थ संस्कृति के आधारभूत अर्थरूप हैं (पृ० ७)। फिर वह मानता है कि भाषा, जादू, पुराण, विज्ञान, दर्शन तथा कला व्यवस्थान के रूप हैं जो परस्पर समानान्तर और स्वतन्त्र हैं (पृ० ५७) 'भाषा की रचनात्मकता का रूप अभिधानात्मक है', (पृ० ५७), 'पुराण विश्वासों को व्यक्त करता है तथा उन्हें संवर्धित और नियमित करता है, (पृ० ६०), 'विज्ञान अभिधानात्मक नहीं है ; विज्ञान अपने विषय तथ्यात्मक प्रमाणीकरण पर आधारित व्याख्या सन्दर्भ में करता है' (पृ० ५६), नीति कर्तृत्वाभिमान के दृष्टिकोण से अपने किये गये कर्म को उचित के सन्दर्भ में देखना है (पृ० १०६), और 'धर्म एक मूल्यबोध है' (पृ० ११७) अथवा 'मूल्यबोध की पराकाष्ठा है' (पृ० ११८)। लेखक का यह कहना बहुत ही सारगर्भित और सही है कि पुराण, भाषा, नीति, धर्म, दर्शन, विज्ञान और कला सभी व्यवस्था के ऐसे रूप हैं जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार इन सब में वास्तव में कोई विरोध नहीं है क्योंकि इनमें से प्रत्येक किसी विशेष स्तर की तथा किसी विशेष दृष्टिकोण से की गई व्यवस्था देता है। किन्तु जहाँ तक संस्कृति की व्याख्या का प्रश्न है वहाँ लेखक अपने दावे में सफल नहीं हुआ है। संस्कृति को उसने कभी 'सामाजिक अनुभव' कहा, कभी 'रचनात्मक अर्थ' (पृ०२), कभी 'समाज का व्यक्तित्व' (पृ० २०) तथा कभी 'समाज का अतिव्यक्तित्व'। इन सभी कथनों की एकार्थकता का प्रतिपादन पूरी पुस्तिका में कहीं नहीं दिखता। वास्तव में उसने संस्कृति की अवधारणा एक ऐसे रहस्यमय अतिमानस तत्त्व के रूप में की है जिसके अपने 'स्व,' 'मन,' कर्तृत्वाभिमान तथा 'ज्ञातृत्वाभिमान हैं'। इस प्रकार सांस्कृतिक स्व, मन, कर्तृत्वाभिमान तथा ज्ञातृत्वाभिमान मनुष्य के व्यक्तिगत स्व, मन, ज्ञातृत्वाभिमान तथा कर्तृत्वाभिमान से पूर्णतः भिन्न हैं। संस्कृति का यह चित्रण वास्तव में संस्कृति की व्याख्या को अत्यधिक उलझनपूर्ण बना देता है। लेखक ने यद्यपि कहीं-कहीं संस्कृति को एक मूल्यानुविष्ठ प्रत्यय माना है तथापि उसने इसको एक 'मानस घटना' (पृ० ४४) कह कर अपनी मूल्यात्मक दृष्टि का निर्वाह नहीं किया है। वास्तव में उसने सभ्यता और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अन्तर कोअ स्वीकार करके संस्कृति को[1] सभ्यता के अर्थ में ले लिया है। फिर उसने भाषा, पौराणिकता, विज्ञान, नीति तथा धर्म का विवेचन करते समय ऐसे एकांगी विचार अपनाये हैं जिनके कारण संस्कृति के साथ इन सब के सम्बन्ध विपर्यस्त हो जाते हैं। लेखक ने पौराणिकता, भाषा, विज्ञान, नीति और धर्म के विवेचनों को संस्कृति के अपरूप के ही दृष्टिकोण से नहीं किया है, यद्यपि उसका दावा यही निश्चित करता है।

कुछ भी हो, लेखक ने धर्म, दर्शन, कला और पौराणिकता को आधुनिक भौतिकवाद, वैज्ञानिकतावाद, तथा तार्किक भाववाद की आलोचनाओं से परे कह कर एक सराहनीय कार्य किया है जिसके लिए वह धन्यवाद का पात्र है।

*लेखक—यशदेव शल्य, प्रकाशक सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, १९६९, पृष्ठ संख्या १४०, मूल्य ४.५० पैसा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्त में पुस्तिका की भाषा पर भी कुछ कहना प्रासंगिक है। इसकी भाषा पर अंग्रेज़ी वाक्य-रचना तथा अंग्रेजी शब्दगठन का प्रभाव है। फिर संस्कृति के प्रकृति और प्रत्यय से बहुत से ऐसे शब्द बनाये गये हैं जिनमें कृत्रिमता तथा आडम्बर अधिक हैं। फलतः लेखक की भाषा काफी दुरूह हो गई है या वर्तमान सांस्कृतिक जीवन की भाषा से काफी दूर हो गई है। लेखक अपनी भाषा को कहीं-कहीं काफी सरल कर सकता था, उदाहरण के लिये निम्नलिखित वाक्यों को आवश्यक रूप से दुरूह ढंग से लिखा गया है :—

''मूल्यान्वेषण यदि 'भौतिक' गुण नहीं है तब विवेक केवल भूल-भुलैया में पुरस्कारक सरणियों के साथ स्वीकारात्मक प्रतिक्रिया की स्थापना'' के सिद्धान्तानुसार व्याख्येय हो जाता है और इस प्रकार मूषिक और मनुष्य में पृष्ठोन्मुखी तारतम्य स्थापित हो जाता है (पृ० ९४)।

पुनश्च 'व्यर्थकारी वृत्त' (पृ० ९०), 'कारित' (पृ० ७४), 'अभिधानीकरण' (पृ० ५४), 'वस्तूकरण' (पृ० ५५), 'उस तक', 'वायवी' (पृ० २०), 'एक समाज' (पृ० १९) आदि शब्दों के प्रयोग स्पष्टतः अंग्रेज़ी शब्दों के ऐसे अनुवाद हैं जो हिन्दी भाषा की प्रतिभा के विपरीत है। इसी प्रकार 'धर्म और विज्ञान' का पौराणीकरण, पुराण का वैज्ञानकीकरण और धार्मीकरण और धर्म का वैज्ञानकीकरण हो जाता है (पृ० ८०), वाक्य हिन्दी वाक्य-रचना से अधिक अंग्रेज़ी वाक्य-रचना के नमूने पर है।

पुस्तिका की साज-सज्जा और छपाई उत्तम है। किन्तु खेद है कि वैसी उत्तमता प्रूफ्स के संशोधन में नहीं है। पृ० १०१ पर 'सत्यात्य,' पृ० १०५ पर 'कर्न्तव्य बाद्य', पृ० ६६ पर 'भवीवृत्ति' आदि छापे की भूलें इस प्रसंग में उल्लेख योग्य हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवा कविता की 'समृद्ध-मिज़ाजी' और नये तेवर

गोविन्द प्रसाद बहुगुणा

'अपने समय के भारतीय मनुष्य को उसके अन्तः-संघर्ष और जूझ को परिभाषित करने की चेष्टा कविता के प्रासंगिक और वयस्क होने के लिए जरूरी है। लेकिन ऐसी चेष्टा मनुष्य की हालत के अहसास भर से कारगर नहीं हो सकती, उसके लिए ज़रूरी है कि उसकी समझ भी कविता के संगठन में सक्रिय हो।' (आरंभ—६) युवा कविता के मुख्य प्रवक्ता अशोक वाजपेयी के इस कथन से असहमत होना उन्हीं के लिए संभव हो सकता है। या फिर जिनके पास पूर्व-निर्धारित समाधानों वाली पारिभाषिक प्रविधा है या फिर मूल्यांध कोरा आग्रह है, जिसका निजी समझ से कोई वास्ता नहीं होता।

समझ और अहसास को अगर अनोखे संगठन से विरत देखना हो, तो आज की युवा कविता में देखा जा सकता है। सिर्फ़ उम्र से युवा होने के जोश में जो कुछ लोग लिख रहे हैं, वह उनकी वक्तव्यशीलता से इतना ऊबपूर्ण हो गया है कि उसे 'चेष्टा' भी कैसे कहा जा सकता है। इस धारणा के कारण में नगरीय विस्फोटों या 'स्ट्रीट रेवोल्यूशन्स' की तरह आजकल की अनेक ऐसी पत्रिकाएं हैं जिन्होंने 'सही युवा लेखन' की तस्वीर को थूक से सनी हुई गालियों के कर्कट से ढक दिया है। ज्यादा युवा कवियों की भाषा राजनीतिक मंचों पर प्रयुक्त होने वाली शक्तिविहीन उल्लंघन की भाषा से अलग-थलग कतई नहीं है। व्यवस्था से उनका यह असंतुष्ट युद्ध तभी तक है जब तक वे स्वयं उसके अंग नहीं बन जाते। युवकों की यह प्रभुताविहीन सामर्थ्य कविता के रूप में छिपी नहीं रह सकती।

कुछ लोग केवल कामू, सार्त्र, इलियट, गुण्टर ग्रास आदि अनेक नये-पुराने पाश्चात्य चिंतकों के नाम गिनाकर कविता की इतिश्री कर देते हैं। विद्रोह कभी उधार नहीं लिया जाता। उसके हमेशा अपने कारण होते हैं। हमारे ही दिमाग में क्या कम तूफान है। देश से बाहर का साहित्य अनुकरण नहीं, समझ चाहता है। भिन्न होने के लिए यह ज़रूरी है। पूर्ववर्तियों से भिन्न होने के लिए और प्रगतिशील बनने के लिए गालियों का मार्ग इसलिए आधुनिक नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी में अपने पूर्ववर्तियों से अलग होने के लिए धर्मवीर भारती व कमलेश्वर आदि इस 'ट्रिक' को कम गंदा नहीं कर चुके हैं। बल्कि उन्होंने 'अपने पश्चात्' के लोगों को उसी चेहरे से देखा जिसे उनके जमाने के स्थापित लोग पहना करते थे। हिन्दी की भाग्य रचना कुछ इस प्रकार हुई है कि इसमें कोई अपनी पीढ़ी से इतर के शब्द गुणों की काव्यता नहीं बखानता है। इस ओर वर्तमान का आलोचन अपना शास्त्र गढ़ने की कुशल प्रज्ञा से उन्मुख हुआ है। कुछ साहित्यिक पत्रिकाओं के फिलहाल के प्रयासों से यह लक्षित भी हो रहा है कि युवा विवेक न साम्प्रदायिक है न नये निषेध गढ़ने को मूल्यांकनातुर। 'आरंभ' ने कमलेश पर अशोक बाजपेयी का लेख प्रकाशित करके व 'ध्वज भंग' ने छँटनी का समारम्भ करके जिन विशिष्ट रचनाओं पर विचार प्रकाशित किये वे संतुष्ट उतना नहीं करते जितना व्याकुल करते हैं। याने हमारी ढेर सारी युवा पत्रिकाएँ इतनी गंभीरता से अब भी क्यों नहीं सोच पा रही हैं। युवा लेखन की उल्टी ऐंठन भाषा में मरोड़ नहीं है बल्कि खुलने की प्रक्रिया है। यह खुलापन सीधा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोल-चाल न होकर साधारण बातचीत से कविता बनते लहजों को टीपने में ज्यादा प्रतीति देता है। सामयिक मुहावरे की तलाश या अलग होकर अपने अनुभवों को काव्यायित करने में कुछ युवा कवियों की ललक को रेखांकित करने का वक्त आ गया है। यह स्थापनाधर्मी जिज्ञासा नहीं बल्कि पहचान का प्रारंभिक प्रयत्न है।

मस्तिष्क की दौड़ को प्रशस्त कराने में युवा कृतिकारों की पंगु-भीड़ में लीलाधर जगूड़ी, धूमिल, नीलाभ, विनोदकुमार शुक्ल और ऋतुराज अपनी सामर्थ्य का संकेत देते हैं। इस संकेत को व्यवहृत ढंग से भी नहीं पकड़ा जा सकेगा। जैसा कि 'आलोचना' के १२वें अंक में कुछ निर्णय दिये गये हैं। 'विचारों की विदाई पर एक अभिभाषण' यह शीर्ष ध्वनिहीन नहीं बल्कि षड्यंत्रपूर्ण मनसा का अतिरेक है। मतलब कि जैसे इन दिनों अब युवा कविता का सत्रावसान हो गया हो और विचारशील आलोचक युवा कवियों की संसद में संयुक्त अधिवेशन के अवसर पर भाषण दे रहे हों। जो अभी अपनी शक्ल नहीं बना सके हैं या जिनकी मुराद, समझ और विद्रोह, भाषा की सृजनप्राणता को अधिक गठन देने की है, उनके शब्दतंत्र को अनुशासन व शासन पर चोट आने की संभावना से च्युत करने की धारणा, कविता के राज्यपालन का प्रकारांतरित षड्यंत्र इस अभिभाषण में है। पता नहीं युवा कविता के प्रमुख प्रवक्ता, अशोक बाजपेयी इन तथा कई अन्य पहलुओं से नज़र दो चार करने से क्यों कतरा गये। लेकिन मुझे तो आत्मरक्षा व आत्मस्थापना की पुष्टि ही उनकी बातों में अधिक लगी। अगर धूमिल, जगूड़ी, नीलाभ, कमलेश, विनोद शुक्ल ने देशी जातिवाद व राजनैतिक प्रांतीयता तथा नौकरी के बोध को अपनी कविताओं में चरितार्थ नहीं किया है तो क्या अशोक बाजपेयी की इन पंक्तियों में वह रहस्य है?—वक्त आ गया है कि मैं। कहीं भी ढेर में से हाथ बढ़ाकर उठाऊँ एक मुट्ठी राख। जली हुई हरिजन हड्डियाँ, कोकाकोला की टूटी हुई अधबोतलें और अपने साल भर के बेटे के पास ले जाकर। चालू मुहावरे में कहूँ यह है मेरा देश—संविधान में सना हुआ। या जगूड़ी की इन पंक्तियों में—

हलो! जोर से बोलो। इसमें डरने की क्या बात है।

क्या कहा? नौकर एक पाँचवीं जात है? याने इस देश की यही क्षमता है। कि इसमें पूरी विषमता है।

(टेलीफोन पर)

क्या अशोक बाजपेयी आलोचना के स्तर पर अपने मन्तव्य को निःसन्देह समझते हुए, अब इन पंक्तियों के अर्थ में जाने से खुद को कवच दे सकते हैं। जगूड़ी की कविता-पंक्तियाँ जो उन्होंने उद्धरित करते वक्त मंगलेश उबराल की पंक्तियों में घाल दी हैं, उन्हें लेकर कुछ विचार किया जाए—

'इक्कीसवीं शताब्दी को। इस बेरौनक गोचर लोकतंत्र में अगर जीना है। तो वेश्या की सार्वजनिक योनि से संभव करना है।'

मैंने जैसा कि पहले कह दिया है, जगूड़ी की कविताओं के शीर्षक, अर्थ और प्रसंग की 'यूनिटी' को टूटने से बचाते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों वाली कविता का शीर्षक है—'हर तरह होना है।' अगर हर तरह होता है तो मानव योनि को सार्वजनिक योनि—'यूनिवर्सल वर्ल्ड' में ढालना है। जो कुछ प्रकट है और समझा जा रहा है वह वास्तव में बेरौनक है। तब चाहे लोकतंत्र ही क्यों न हो। (या अशोक बाजपेयी की आलोचना ही क्यों न हो) कौन नहीं चाहता कि आने वाला वक्त अच्छा और काम का हो। पिछले लोग आने वाले लोगों के लिए जो छाप या प्रभाव छोड़ते हैं उसके अनुसार (या अनुपात में) बीसवीं शताब्दी के वर्तमान कार्य दशक कोई भली विधि नहीं छोड़ रहे हैं। फिर भी अगर इक्कीसवीं शताब्दी में हमें जीवन संभव करना है तो औरत को डिह्यूमनाइज़ करके नहीं बल्कि वेश्या की सार्वजनिक योनि से संभव करना है। असली लोकतंत्र में स्वस्थ जनमत सचेतक का काम करता है। व्यवस्था की खामियों के प्रति व्यवस्था को सचेत करना प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति का प्रजातांत्रिक अधिकार एवं नागरिक शिष्टाचार है।

'यही तो वल हो गया है। जनतंत्र में। गाली देना सरल हो गया है।'...'गरीबी का छेद मत ढको।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हला। ध्यान दो। व्यवस्था का सवाल है। अखबार सँभालकर रखो। यह देश गरम है और गरीब है। ...यहाँ भी वही हाल है। सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं। सीढ़ियाँ उतर रहे हैं। रेडियो सुन रहे हैं। अखबार पढ़ रहे हैं। याने जो जितने बड़े हैं उतने सही ढंग से पड़े हैं।' (टेलीफोन पर—लीलाधर जगूड़ी।) ये पंक्तियाँ उस युवा कवि की हैं जो 'विचारों की विदाई' में शामिल किया गया था। अशोक बाजपेयी समझ सकते हैं कि यह विचारों की विदाई है या विचारों का उदयंकार।

कविता एकायामी नहीं होती। और न उस पर 'चलती फिरती रंगत' में विचार ही हो पाता है। इस तरह विचारों से विदाई नहीं लेनी चाहिए। यह अनेकार्थी युवा साहित्य के लिए माफिक नहीं पड़ेगा। सिर्फ अहसास को पकड़कर आलोचना गाढ़ना बुद्धिहीन होने और समय के मिजाज का अपरिचय कबूल करने जैसा है। 'समझ' कविता के संगठन में अगर अपेक्षित है तो आलोचना में वह कैसे दरकिनार की जा सकती है। अशोक बाजपेयी की शुरू की कुछ पंक्तियाँ दुबारा उद्धरित करना चाहूँगा—'लेकिन ऐसी चेष्टा मनुष्य की हालत के अहसास भर से कारगर नहीं हो सकती, उसके लिए जरूरी है कि उसकी समझ भी कविता के संगठन में सक्रिय हो,' मैं, 'कविता के संगठन में' के स्थान पर 'आलोचना के संगठन में' भी लगाना भाषा को नया जीवन और संस्कार देना जगूड़ी की कविताओं का एक और महत्त्वपूर्ण एवं उजागर पहलू है। परम्परित उपकरणों के ताल से शब्दों का मेल तोड़कर उन्हें भाषा की नई दोस्ती में शामिल करने के लिए वह आतुरता की हद तक उत्सुक दिखाई पड़ता है। भाषा की चिनाई के लिए जिस जागरूकता और शब्दशीलता की जरूरत पड़ती है वह धीरे-धीरे जगूड़ी की रचनाओं में अपनी एक लिंक बना रही है। इस कारण उसकी कविताओं में अपेक्षित अर्थ उत्पन्न करने के अलावा साथ ही साथ आकस्मिक अर्थ भी पैदा करने की हर पद में सुरक्षित शुद्रता आ गई है। यह प्रतिभा ग़ालिब में विशेष और ज्यादातर अंशों में विद्यमान थी। ग़ालिब की तरह जगूड़ी भी मुहावरे की फ़ाकामस्ती में फँस गया है—'हम एक ऐसी दुनिया में पड़ गये हैं जहाँ तमाम लोग अपनी दनिक जिन्दगी के पेंच दाँतों से कस रहे हैं। और—

'पहाड़ों के पाख
कितने दोगले होते हैं
कि पेड़ कहीं गिरता है
और गूँज कहीं उठती है।'

शब्दों को इतनी दिलचस्पी और खूबसूरती से रखना कि उनमें स्थापत्य जैसा टिकाऊ आकर्षण लम हो, जगूड़ी की कविताओं का युवा गुण है।

युवा कविता को गुमराह या कमज़ोर करने में व्यक्तित्वहीन लघु पत्रिकाओं का परम कर्त्तव्य रहा है। इस सत्य से तथाकथित विद्रोही लघुताएँ तो सहमत होंगी नहीं। फिर भी कह दूँ कि उन्होंने युवा लेखन को अधिक पतित होने के लिए ऊँचाई दी है। पूर्ववर्तियों से भिन्न और प्रगतिशील बनने के लिए फैशन के सहारे की आवश्यकता नहीं बल्कि शब्दों से साकांक्ष भाषा एवं नवीन तथ्यों की खोज की है। भाषा के माध्यम से कविता के लिए अछूती संभावनाओं की टटोल एक विधि है किन्तु अर्थ को प्रासांगिक व सामयिकता के अंतराल में फिट कर उसे गति देना एक रचना है। विधि में गति का संसरण या गति में विधि का संसरण हो, यह आलोचक का संसार है। आलोचक बने हुए संसार में घुसता है इसलिए क्या उसके पास तोड़-फोड़ का अधिकार रहने देना चाहिए? हाँ, वहाँ वह अपनी बस्ती जरूर बसा सकता है ताकि महुल्ला और उजागर हो। बकौल अशोक बाजपेयी के 'अर्थ-विस्तार हो।' अर्थ का ह्रास करके वे अपनी कई बातों से या तो टल रहे हैं या मुकर रहे हैं।

युवा कविता की समृद्ध-मिजाजी और नये तेवर जिन अर्थानुभवों को उद्घाटित करते हैं वे समारोहों की भाषा में शांति भंग का औचक कारण बन जाते हैं। अतः समारोहों से बाहर 'जहाँ लोग दुर्घटनाओं। व्यापार की गुंजाइश देखकर। उत्सव की तरह शामिल हो रहे हैं' (लीलाधर जगूड़ी) वहाँ शब्दों का ही सही,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापार में नुकसान होने से बचाना है। भाषा का 'मार्तलोक' पूर्ववर्तियों की किताबें नहीं बल्कि जुबान है जिसका कोई भरोसा नहीं कब फिसल जाए—

जीवन और मामला

मेरे सामने पड़ा है
उखड़े हुए कमजोर कंधे पर मैं किसे उठाऊं
सिर से पहिले

(लीलाधर जगूड़ी)

स्वीकारोक्ति का रंग-रोगन

विष्णु खरे

एक अच्छी आत्मकथा का सही मापदण्ड यह नहीं होना चाहिए कि उसमें लेखक के जीवन की कितनी घटनाओं का समावेश हो पाया है। यदि आत्मकथा का उद्देश्य यही है तो किसी व्यक्ति की प्रतिदिन लिखी गई डायरी भी आत्मकथा कहला सकती है। किन्तु जिस तरह दैनिक अखबारों की जिल्द को देश या संसार का इतिहास नहीं कहा जा सकता, उसी तरह रोज़मर्रा की महत्त्वहीन एक-एक घटना को किसी व्यक्ति की जीवनी या आत्मकथा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। मुश्किल से आधा दर्जन सार्थक अनुभव एक सार्थक जीवन की आधारशिला होते हैं और उन्हीं मुट्ठी भर अनुभवों के विस्तार से ही सही आत्मकथा का निर्माण होता है।

शायद यहीं पर कहीं 'आत्मकथात्मक खाकों' और पूरी 'आत्मकथा' के बीच का अन्तर छिपा हुआ है। हम सब अपने जीवन की अधिकांश घटनाओं को अभूतपूर्व या दिलचस्प समझते हैं और यह हमें बाध्य करता है कि हम उन्हें अपनी आत्मकथा का अंश बनाएँ या उन्हें अपने जीवन की 'स्कीम' में कहीं जगह दें। किन्तु जीवन की घटनाएं कितनी भी वैविध्यपूर्ण क्यों न हों, हर जीवन एक खास 'थीम' पर टिका हुआ होता है और घटना का उस मौलिक 'थीम' पर प्रभाव नहीं पड़ता। यह बहुत संभव है कि किसी बहुत 'छोटी' घटना का किसी जीवन पर निर्णायक असर पड़े (बुद्ध, तुलसी, गांधी आदि इसके उदाहरण हैं) और सनसनीखेज़ संभावनाओं वाली कोई घटना अपनी तात्कालिकता में महती प्रतीत हो किन्तु पूरे जीवन में उसका कोई प्रभाव न दीख पड़े।

इसीलिए आत्मकथा के लेखक (तथा पाठक) को घटनाओं की ऊपरी चकाचौंध से बचना चाहिए और

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों में से बहुत कम ने अपनी ऐसी जीवनियाँ लिखी हैं जिन्हें अंग्रेज़ी में फुल-लैन्थ कहा जाता है। हिन्दी में आत्मकथा-साहित्य का यह अभाव कई तरह से दुर्भाग्यपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि एक सही आत्मकथा उसके लिखने वाले के व्यक्तित्व और कृतित्व पर ऐसा प्रकाश डाल सकती है जिसके कहीं और से आने की सम्भावना बहुत कम होती है। जीवनी लिखने वाला लाख पत्र हासिल कर ले, सगे-सम्बन्धियों-अन्तरंगों से इन्टरव्यू ले ले, पत्र-पत्रिकाएँ उलट ले, पुस्तकालय छान मारे, जो असलीपन आत्मकथा में होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

राजनेता, सेनापति, दार्शनिक से लेकर लम्पट और वेश्याएँ तक आत्मकथा लिख गए हैं। विश्व-साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा 'आत्मकथात्मक' है। आत्मकथा तभी लिखी जाती है (या लिखी जानी चाहिए) जबकि लिखने वाला यह महसूस करे कि उसके पास कुछ ऐसे अनुभव इकट्ठे हो गए हैं जिन्हें दूसरे न सिर्फ़ दिलचस्पी से पढ़ेंगे बल्कि हो सका तो उससे कुछ ग्रहण भी करेंगे। किन्तु आत्मकथा की एक अनिवार्य शर्त्त यह भी है कि उसमें जो लिखा जा रहा है वह सत्य हो और कुछ ही चीज़ों का संकलन मात्र न हो। कुछ ही चीज़ों का अर्थ उनसे है जो आत्मकथा-लेखक को अविश्वसनीय रूप से एक 'नायक' या 'अच्छा आदमी' बनाती हों। चूंकि यह सामान्य मानव-स्वभाव है कि व्यक्ति अपने बुरे अनुभवों तथा बुरे कर्मों को भूलता जाता है इसलिए सच्चा आत्म-कथाकार वही हो सकता है जो स्वयं के विषय में लिखते हुए एक विशेष अर्थ में अपने से विलग हो सके—अपने विषय में लिखे, किन्तु स्वयं से अभिभूत होकर नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिखरे हुए अनुभवों में ऐसा सूत्र देखना चाहिए जो वास्तव में जीवन में एक सार्थकता देखने में सहायक हो। आत्मकथा लेखक सब कुछ बताने के मोह में न पड़े क्योंकि सब कुछ बताना अक्सर कुछ भी न बताने के बराबर होता है। बहुत संभव है कि अपनी आत्मकथा में वह कई महीनों या वर्षों का हिसाब न बता पाए, जिस तरह कभी-कभी कवि या उपन्यासकार अपने मौन के कई वर्षों को समझा पाने में असमर्थ रहता है। उसे इस बात की भी लज्जा नहीं होनी चाहिए कि उसने एक लम्बा अरसा निहायत वाहियात कारोबार में गँवा दिया। संक्षेप में, उसके पास अपने जीवन से भी बड़ी जीवन-दृष्टि होनी चाहिए। आत्मकथा के साथ एक नियम यह भी है कि कोई भी आत्मकथाकार अपने जीवन-वृत्तांत को, जैसा कि वह है उससे ऊपर नहीं उठा सकता। यानी यह कि आत्मकथा में 'अंडर-स्टेटमैंट' तो हर समय संभव है, किन्तु स्वयं के विषय में ज़्यादा कहना फ़ौरन पकड़ में आ सकता है। मिलखासिंह की आत्मकथा को किसी भी तरह महात्मा गाँधी की आत्मकथा नहीं बनाया जा सकता।

बच्चन की आत्मकथा[1] पाश्चात्य आत्मकथाओं की तरह अपने पूर्वजों, कुल-वृक्ष, (हिन्दू होने के नाते) जाति-कथाओं के ब्यौरे से प्रारम्भ होती है। पहले दस पृष्ठ कायस्थ—'लोर' से ओतप्रोत हैं और दिलचस्प हैं। बच्चन की इस आत्मकथा पर यह आरोप तो लगाया ही नहीं जा सकता कि यह दिलचस्प नहीं है। हिन्दी साहित्य के इतिहास की यह अद्भुत घड़ी है कि जब हिन्दी के उपन्यास और कहानियाँ दिन-ब-दिन अपठनीय होते जा रहे हैं तो एक आत्मकथा ऐसी आई है जो शुरू से आखिरी तक पढ़ी जा सकती है। छायावादी भाषा की जड़ता को बच्चन ने कभी तोड़ा था और स्पष्ट है कि उनकी भाषा एक खास तरह के गद्य के लिए अभी-भी कारगर है। घटनाओं को 'दिलचस्प' या 'पठनीय' बना पाना बड़ा मुश्किल है और घटनाओं और नामों से भरी सवा तीन सौ पृष्ठों की पुस्तक तो पाठक से पढ़वा लेना अच्छे-अच्छे लेखकों का स्वप्न रहा है। बहुत कम कवि अच्छा गद्य लिख पाते हैं क्योंकि गद्य की अनिवार्य शर्त अपनी बात साफ़ कहना है और कवि अपनी बात साफ़ कहाँ कहना चाहता है? बच्चन का कायस्थ होना, घर में उर्दू + रामचरितमानस की परम्परा, बाद में अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन आदि उनके गद्य को एक विशेष सरलता देते हैं। भविष्य में यदि बच्चन की आत्मकथा की कीमत न रही तो कम-से-कम इसलिए रहेगी ही कि उसने हिन्दी गद्य की एक संभावना की ओर इंगित किया है।

किन्तु कहा जा चुका है कि किसी भी साहित्यिक कलाकृति पर बात सिर्फ़ उसकी दिलचस्पी को लेकर ही नहीं की जा सकती। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय दिलचस्प हैं, कमलेश्वर, भारती, राकेश की एक अलग दिलचस्पी है और एक अन्य अर्थ में काशीनाथसिंह, ज्ञानरंजन और रवीन्द्र कालिया भी दिलचस्प हैं किन्तु ये सभी एक ही तरह के लेखक नहीं हैं, हो सकता है कि एक महान कृति दिलचस्प भी हो, किन्तु एक बहुत अधिक दिलचस्प किताब इसी वजह से महान नहीं हो जाएगी कि वह दिलचस्प है।

एक आत्मकथा पठनीय हो सके यह बहुत बड़ी बात है क्योंकि उससे लेखक का सबसे प्रमुख उद्देश्य—अपने जीवन में पाठक की दिलचस्पी पैदा कर पाना—सफल होता है। लेकिन आत्मकथा केवल किस्सागोई नहीं है। बच्चन की आत्मकथा की असफलता इसमें नहीं है कि वह एक महान व्यक्ति की आत्मकथा नहीं है बल्कि इसमें है कि अपनी जीवनी को उतनी अर्थवत्ता नहीं दे पाए जितनी वे अपनी क्षमताओं के दायरे में भी दे सकते थे। प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा करना व्यर्थ है कि वह महान व्यक्ति हो—उसी तरह जिस तरह प्रत्येक कवि से यह अपेक्षा करना कि वह महाकवि हो किन्तु प्रत्येक व्यक्ति से यह ज़रूर उम्मीद की जा सकती है कि वह अपने जीवन के कुछ क्षणों में, जिन्हें सुविधा के लिए परीक्षा के क्षण कहा जा सकता है, यदि महान सिद्ध न हो तो कम-से-कम उसमें ऐसी छटपटाहट तो हो कि उन्हें आदमी की त्रासदी के नज़दीक तक पहुँचाने वाला बनाएँ। ज्यां जेने या मल्किम एक्स महान व्यक्ति नहीं हैं किन्तु उनकी आत्मकथाएँ इसीलिए महानता को छूती प्रतीत होती हैं कि उनमें एक अर्थवान जीवन की तलाश के संघर्ष का अविकल तथा निर्मम चित्रण है।

१. "क्या भूलूं क्या याद करूं" : बच्चन : राजपाल एण्ड संस, दिल्ली ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर 'परीक्षा के क्षणों' की बात की गई है और मैं समझता हूँ कि बच्चन की इस आत्मकथा में भी परीक्षा के दो क्षणों का ब्यौरा है जो हो सकता है किन्हीं व्यक्तियों को अपनी 'साफ़गोई' में अभूतपूर्व और इसलिए 'प्रशंसनीय' या यहाँ तक कि 'महान' लगें, मुझे वे बच्चन की बौद्धिक बनावट और आचरण पर, और इस तरह उनके समूचे व्यक्तित्व और काव्य पर, एक विलक्षण प्रभाव डालते प्रतीत होते हैं। मेरा संकेत 'कर्कल-चंपा' प्रसंग तथा 'श्रीकृष्ण-प्रकाशो' प्रसंग की ओर है। कर्कल और बच्चन की मित्रता में बहुत कुछ ऐसा है जो अप्राकृतिक है। जब कर्कल के ब्याह का जिक्र हुआ तो बच्चन को डर था कि चम्पा कर्कल को उनसे छीन लेगी और वे एकाकी, निरीह और असहाय रह जाएँगे। वे उदास रहने लगे और जब कर्कल ने पूछ ही लिया तो उन्होंने अपनी आशंका व्यक्त कर दी और रोने लगे। इस पर 'उन्होंने मुझे अपनी बाँहों में कस लिया, मुझे प्यार किया, और मेरी आँखों में सीधे देखते हुए, जैसे अपने आपको ही मुझमें उँडेलते हुए, मुझसे कहा, "जो मेरा होगा वह तुम्हारा भी होगा। हम शरीर से ही दो हैं, प्राण से एक!"... "मैं दो की एक स्वप्निल दुनिया की जगह तीन के एक स्वप्निल संसार की कल्पना करने लगा।" तत्पश्चात् जब चम्पा दोनों के जीवन में प्रवेश करती है तो "वह तो उस पुस्तक (कोकशास्त्र) से भी हजार गुना आकर्षक और कौतूहल-वर्धक थी जिसे कर्कल और मैंने उसी कमरे में बैठकर पढ़ा था।" बच्चन आगे लिखते हैं "उन थोड़े से दिनों में हम तूफान से गुज़रे, सैलाब में बहे, भावनाओं की हमने सघनता जानी, गहराइयाँ छुईं, तनावों का कसाव झेला,, खिंचाव सहा"..."आलोचना, व्यंग्य, निन्दा, भर्त्सना दोषारोप, दूषणारोपण, आक्रोश, अभिशाप—सब हमने साहसपूर्वक, या दुनिया की नज़रों में बेहयाई से, ओढ़ लिए थे।" अचानक कर्कल की मृत्यु हो जाती है और शोक-विक्षिप्त चंपा गर्भवती न होते हुए भी कहती है कि उसके पेट में बच्चा है। इसके बाद महीनों तक चम्पा चुपचाप पड़ी रही किन्तु बच्चन उसके पास जाते रहे..."कभी वह मुझे झुकाकर मेरा सिर अपनी छाती पर धर लेती, और मेरे बालों में चलती उसकी उँगलियाँ धीरे-धीरे निस्पंद हो जातीं और मुझे लगता कि मैं किसी अतल शून्य में डूब गया हूँ। कभी मैं पाता कि उसने मुझे अपनी रज़ाई में खींच लिया है और या तो वह मेरी छाती में दुबककर सिसक रही है या मेरी बाँहों में बेहोश हो गई है, या मैं उसकी छाती में दुबककर सिसक रहा हूँ या मुझे कुछ होश नहीं है कि मैं कहाँ हूँ—जैसे डूबते हुए कोई दो व्यक्ति एक-दूसरे को तिनके की तरह पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हों।"

इसके पश्चात् चंपा गर्भवती हो जाती है और उसका इंतज़ाम करने के लिए कर्कल की माँ उसे तीर्थयात्रा पर ले जाती है। इस पर बच्चन के उद्गार दृष्टव्य हैं "काश, मैं भी चम्पा के साथ बदरीनाथ जा सकता! काश, मैं भी उन दोनों के साथ याचक बनकर घर-घर घूमता! काश, समाज सामान्य से परे के लिए भी कोई सम्मान-पूर्ण स्थान रखता!"

इन पंक्तियों पर ग़ौर करना होगा। चम्पा की त्रासदी, जो मानव-निर्मित त्रासदी है और जिसके मूल में बच्चन हैं, बच्चन के द्वारा ही हल की जा सकती थी। हो सकता है कि मैं स्थिति की शरच्चंद्रनुमा भावुकता से अलग जा रहा हूँ, किन्तु पूछा जा सकता है कि बच्चन के सामने ऐसे कौन से संकट थे कि वे चंपा से विवाह नहीं कर सके—या जैसा कि उस युग में रिवाज था, कम-से-कम कायस्थों में तो था ही—उसे रखैल का ही दर्जा नहीं प्रदान कर सके। उन्हें ऐसा करने से न तो 'समाज' ने रोका और न उनके माता-पिता ने (क्योंकि उन्होंने ऐसा करने की इच्छा ही प्रकट नहीं की), दरअसल बच्चन की मौलिक भीरुता, मौकापरस्ती तथा अनैतिकता ने ही उन्हें अपना सुखी और सुविधापूर्ण संसार छोड़ने से रोका। दो पुरुषों के बीच असाधारण सम्बन्ध, उनका एक स्त्री के साथ सोना, उनमें से एक की मृत्यु के बाद दूसरे का उसकी विधवा के साथ यौन-सम्बन्ध यह सब अनैतिक न भी हो, किन्तु उस अभागन का गर्भवती होकर दर-दर भटकना भयावह है। मैं बच्चन से किसी भी तरह की शूरवीरता की माँग नहीं करता किन्तु इस घटना में अपनी भूमिका को 'मर्मस्पर्शी' बनाने के लिए वे गद्य का एक खतरनाक इस्तेमाल करते हैं, उसमें एक खोखली काशवादी भावुकता की सूई देकर अश्रूत्तोजक बनाते हैं और आत्म-दया उपजाने की हरकत करते हैं। इस हादसे के बल पर वे यह लिखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दुस्साहस करते हैं, "शब्दों में कवि होने से पूर्व मैं जीवन में कवि बन गया था। ओह, जीवन में कवि बनने के लिए कितना मूल्य चुकाना पड़ता है !" बच्चन यहाँ यह सोच रहे हैं कि 'ओह', 'काश', 'मूल्य', 'त्याग' आदि का प्रयोग करने से ही पलायनवाद को प्रभामंडल बनाया जा सकता है। पाठक यह देखने के लिए पन्ने पलटता रहता है कि उन्होंने कितना क्या मूल्य कहाँ चुकाया है। चंपा गर्भपात करवाकर लौटती है, अचानक उसकी मृत्यु हो जाती है और बच्चन का इस पूरे शर्मनाक प्रकरण पर समाधि-लेख यह है, "मैं रात-भर मुंह में कपड़ा दबाकर रोता हूँ—चोर नारि जिमि प्रकट न रोई !'—कई रातों को रोता हूँ और एक दिन, जैसा दुनिया का क्रम है, मेरे आँसू सूख जाते हैं।"

दूसरा 'परीक्षा का क्षण' है श्रीकृष्ण-प्रकाशो-बच्चन प्रकरण। अव्वल तो यह आत्मकथा लिखने के नैतिक मानदण्डों के विरुद्ध है कि उसमें ऐसे व्यक्तियों का कोई भी अंतरंग प्रकरण आए जो स्वयं या उनके एकदम निकटस्थ संबंधी जीवित हों। मुझे आश्चर्य है कि इसका विवरण देते हुए इस सामान्य किन्तु अत्यंत महत्त्वपूर्ण शिष्टाचार का खयाल क्यों नहीं रखा गया। श्रीकृष्ण-प्रकाशो तथा स्वयं के संबंधों में स्वयं बच्चन ने पुराना कर्कल-चंपा-बच्चन त्रिकोण देखा है। जिस तरह से बच्चन कर्कल सरीखे पुरुषों की ओर आकृष्ट होते हैं वह विचित्र है। "श्रीकृष्ण और रानी के साथ बैठे...इस बात को मैं बिल्कुल भूल जाता कि यह दिल्ली है, यह श्रीकृष्ण है, यह रानी है, या यह मैं हूँ; लगता जैसे...कर्कल, चम्पा और मैं अपने धुएँ-धुएँ से शरीर में वहाँ मौजूद हैं—एक दूसरे से बिल्कुल अभिन्नता का अनुभव करते।" कुछ दिन बाद प्रकाशो बच्चन के घर रहने आ जाती है और उनके बीच संबंध प्रगाढ़ हो जाते हैं। कुछ घटनाओं के बाद श्रीकृष्ण भी इलाहाबाद आते हैं और बच्चन देखते हैं कि प्रकाशो श्रीकृष्ण की ओर खिंचने लगी है। बच्चन लगातार दोनों की मदद करते हैं किन्तु (जैसी ध्वनि निकलती है) वे दोनों लगातार उनका शोषण करते रहते हैं। एक विचित्र शाम श्रीकृष्ण और प्रकाशो तय करते हैं कि यमुना में डूबकर मर जाएँगे और ऐसा लिखकर छोड़ जाते हैं। जब बच्चन उनके घर पहुँचते हैं तो पत्र पढ़कर बदहवास जमुना की ओर दौड़ते हैं किन्तु सफेद कपड़ों में उन्हें वापस लौटते देख (शायद भूत समझकर) रास्ते में बेहोश हो जाते हैं। होश आने पर एक पत्र द्वारा वे उनसे संबंध तोड़ लेते हैं।

कर्कल-चंपा प्रकरण की तरह इस मामले में भी बच्चन ने खुद को बेदाग़ दिखलाने की कोशिश की है। वे अपनी आत्म केन्द्रीयता तथा चोट खाई हुई भावना में यह भूल जाते हैं कि इस घटना में कहीं कुछ ऐसा भी है जो स्वयं उन पर एक व्यंगात्मक दृष्टि डलवा सकता है। कोई भी पाठक देख सकता है कि श्रीकृष्ण और प्रकाशो की सेवा में बच्चन का भी एक 'स्वार्थ' था जिसकी सिद्धि के मार्ग में श्रीकृष्ण का आ जाना एक अवरोध था। ध्यान रहे कि प्रकाशो से उनका सम्बन्ध उस समय था जब उनकी पत्नी श्यामा जीवित थीं, जिनके विषय में वे लिखते हैं "वह उसी दिन से जान गई थी जिस दिन से मेरे जीवन में आई थी कि मुझे उसकी आवश्यकता है, कि वह मेरे लिए अनिवार्य है।"

मैंने इन दोनों घटनाओं को 'परीक्षा के क्षण' इसलिए नहीं कहा है कि यदि बच्चन इनसे 'नायक' की तरह उभरते तो मैं इस आत्मकथा तथा उन्हें महान मान लेता। मैं इन पर इसलिए ध्यान केन्द्रित कराना चाहता था कि इन दोनों से बच्चन एक बहुत कमजोर और रुग्ण किस्म के इन्सान के रूप में प्रस्तुत होते हैं। मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि कमज़ोर और रुग्ण होना कोई अपराध है। यदि यह घटनाएं उन्हें 'पाप' का बोध करातीं, उन्हें विश्व की बनावट अथवा मानव-संबंधों की गीतात्मकता तथा नारकीयता से परिचित करातीं, एक 'सिनिक' व्यक्ति बनातीं तो भी इस आत्मकथा और उसे लिखने वाले के जीवन को एक अर्थगर्भ तनाव के संदर्भों में देखा-परखा जा सकता था। किन्तु ऐसा नहीं है। बच्चन क़िस्सा सुनाने के लिए बेताब हैं। वे घटनाओं की गहराई में नहीं उतरना चाहते, वे घटनाओं का अम्बार लगाना चाहते हैं और यह इसीलिए है कि उन्हें अपने अनुभवों के सामर्थ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अविश्वास है क्योंकि उन्हें स्वयं अपने सामर्थ्य में अविश्वास है : "मनोविज्ञान की खोज है कि प्रत्येक पुरुष में एक नारी भी अंतर्निहित होती है, जैसे प्रत्येक नारी में एक पुरुष भी अंतर्निहित होता है। मुझे लगता है कि मेरे व्यक्तित्व में अन्तर्निहित पुरुष से अंतर्निहित नारी अधिक सबल है। मुझे सदा ही वे नारियाँ प्रभावित करती हैं।"

सामर्थ्य का यह अभाव बच्चन सरीखे कवियों और साहित्यकारों को 'लोकप्रिय' 'जनमनरंजक' 'कलाकार' बनने को विवश करता है। इसको जन-विरोधी न समझा जाय कि प्रत्येक युग में पाठक-समुदाय में अधिकांश ऐसे होते हैं जो शिक्षित होते हुए भी केवल साक्षर होते हैं। यह सुविधाप्रेमी वर्ग खास तरह की चीज़ें चाहता है और चूंकि यह विशाल होता है इसलिए समसामयिक लेखकों का एक बड़ा वर्ग इनकी ज़रूरतों को पूरी करता रहता है। इसमें कोई बुराई नहीं किन्तु दुःख उस समय होता है जब कि ऐसे लेखक अपनी इस 'लोकप्रियता' को उस तरह लिए फिरते हैं जिस तरह कोटवार तहसीलदार के सर्टिफिकेट को लिए घूमता है। वे इससे बिल्कुल बेखबर रहते हैं कि वे लोकप्रियता के कैदी हो चुके हैं और वह उन पर सिन्दबाद के बूढ़े की तरह बैठी हुई है। अपने पाठक से प्रशंसा या करुणा प्राप्त करने की इच्छा जितनी बलवती बच्चन में है वह किसी अन्य हिन्दी लेखक में दुर्लभ है। वे इसे 'प्रतिक्रिया जानकर लाभान्वित होने' के नाम से पुकारते हैं। अपनी आत्मकथा में उन्होंने जनता की वाहवाही के नशे की बात की है और कहा है कि वे इससे अब ऊब गये हैं। हो सकता है कि मैं भ्रम में होऊँ किन्तु कर्कल तथा श्रीकृष्ण के प्रसंगों में भी एक साहसपूर्ण कृत्य कर 'प्लेयिंग टु द गैलरी' की गंध आती है। पुस्तक का वाक्य 'आप उसे देखना चाहेंगे ?' इसका प्रतीक है कि बच्चन को श्रोताओं या पाठकों की हिस्सेदारी में अदम्य विश्वास है। आत्मकथा पढ़कर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि बच्चन ऐसे कवि क्यों हुए जैसे कि हैं।

ऊपर जिस सामर्थ्य के अभाव की चर्चा की गई है उसका अर्थ यह न लगाया जाए कि उसकी पूर्ति भी की जा सकती है। पैदा होने के बाद हम जैसे हैं वैसा होने के लिए अभिशप्त हैं और एक सीमा के बाद किसी भी तरह का प्रशिक्षण हमें बदलने में अक्सर असमर्थ होता है। यह उचित ही है क्योंकि ऐसा न होता तो सृष्टि का यह अनंत वैविध्य कहाँ से आता। बच्चन का गद्य वहाँ तक सफल है—उनकी आत्मकथा वहाँ तक सफल है—जहाँ तक उसका वास्ता आसान और सपाट चीज़ों से पड़ता है किन्तु जहां वह जीवन के पेंचीदे अनुभवों के सामने आता है, निस्तेज, कुंद और कतराने वाला हो जाता है तथा पाठक के हृदय में दया या भ्रातृभाव उपजाने की कोशिश करने लगता है। गुनाह कुबूल करने वाला सुविधाप्रेमी मुखबिर भी होता है और सन्त आगस्टाइन भी। स्पष्ट है कि बच्चन संत आगस्टाइन नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नये संग्रहों में पुराने निबंध

विष्णु खरे

हिन्दी में निबन्ध लिखने वालों का ऐसा अभाव है कि कोई लिखना शुरू करे और निबन्धकार बन जाय, सहज संभाव्य है। देखने में तो निबन्ध बड़ी आसान विधा है (मेरा अर्थ उस निबन्ध से है जो आलोचनात्मक नहीं होता) लेकिन १९७० में छपे महाविद्यालयोपयोगी निबन्ध-संग्रहों में बाबुओं और आचार्यों के वही प्रागैतिहासिक निबंधों को देखकर लगता है कि निबन्ध-लेखन की सरिता १९४० के उस तरफ़ ही कहीं सूख गई। खैर, सब जानते हैं कि निबन्ध लिखना कठिन काम है क्योंकि उसके लिए एक गैर-पंडिताऊ गांभीर्य तथा/या भँड़ैती-रहित हास्य की आवश्यकता होती है। जहाँ तक गांभीर्य का प्रश्न है वह तो इधर कुछ वर्षों से हिन्दी के पेशेवर अध्यापकों के यहाँ चला गया और हास्य गया 'धर्मयुग' के हाशिये पर—जहाँ से अब वह शंकर्स वीकली (हिन्दी) में सवाल-जवाब के स्तर पर आ रहा है। हिन्दी में निबन्ध के पतन के कारणों में जाना समय नष्ट करना है, किन्तु यह भी सही है कि पिछले दस वर्षों में विभिन्न बहस-मुबाहिसों को जीवित रखने के लिए अनगिनत निबन्ध लिखे गये हैं।

आलोचना की तरह निबन्ध लिखना भी हिन्दी में द्वितीय श्रेणी का काम माना जाता रहा है (आम तौर पर तृतीय श्रेणी के सृजन की आलोचना भला कब प्रथम श्रेणी की हुई है) और हिन्दी का लेखक जब तक कविता, कहानी या उपन्यास में नाम नहीं कमा लेता तब तक उस ओर जाने का आत्महंता दुस्साहस नहीं करता। हिन्दी के प्रत्येक लब्धप्रतिष्ठ लेखक ने निबन्ध अवश्य लिखे हैं किंतु वे एक आश्वस्त अन्तराल में ही संभव हुए हैं। इसीलिए हिन्दी में लैम्ब, रॉबर्ट-लिन्ड या अल्फ़ा ऑव द प्लाउ सरीखे केवल निबन्धकार एक भी व्यक्ति नहीं हैं। यह बात और है कि एक बार संकोच खुल जाने पर हिन्दी का साहित्यकार छिटपुट निबन्ध लिखता रहता है और वे निबन्ध उसकी प्रकृति, प्रतिभा तथा हिन्दी साहित्य की राजनीति में उसके स्थान के अनुरूप वैविध्य पाते रहते हैं। वैविध्य से अर्थ यह है कि कभी वह अपने प्रिय विषय—'मैं', 'मेरी पाचन-क्रिया', 'मैं अपने आदमियों की निगाह में', कभी किसी राजनीतिक या अर्ध-राजनीतिक विषय पर, कभी साहित्यिक आंदोलनों के उन्मूलन, स्थापन या अनुमोदन पर लिखता है। इसी वजह से उसके संग्रह अजीबोग़रीब शीर्षकोंवाले खंड-उपखंडों में बंटे रहते हैं।

भारती के निबंध-संग्रह[1] में पूर्णतया व्यक्तिगत निबंध भी हैं, कुछ साहित्यिक प्रश्नों पर हैं और कुछ साहित्य-समाज की फैशनों से भी संबंधित हैं। इनमें से सबसे पुराना १९५९ का है और सबसे नया १९६७ का। चूंकि भारती ने कहीं भी यह नहीं कहा है कि इन निबंधों को लिखने के बाद उनके विचारों में कोई परिवर्तन हुआ है इसलिए यह मानकर चलना होगा कि व्यक्तिगत निबंधों को छोड़कर शेष साहित्यिक तथा अर्ध-साहित्यिक निबंधों में भारती के आज के ही विचार हैं।

भारती को 'आधुनिक' लेखक माना जाता रहा है। वे छठवें दशक के अर्थों में आधुनिक लेखक हैं जब दुविधा में पड़े रहना, प्रश्न पूछना, व्याकुल होना और मनुष्य के अस्तित्व पर विचार करना आधुनिकता समझे जाते थे। कैक्टस, क्रॉस (सलीब), लघुमानव, धुरी, ज़िज़िफ़स

१. पश्यंती : धर्मवीर भारती : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-६, ६ रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि जोर पकड़ गये थे और वातावरण जाने कैसा-कैसा सा रहता था। १९५० से १९६० तकका यह काल मूलतः घोर रूमानी था किन्तु फैशनेबल बनने के लिए यूरोपनामी तथा अमरीकानामी दुशाले पहनना प्रारंभ कर चुका था। यह आकस्मिक नहीं था कि शरद देवड़ा सरीखे व्यक्ति आधुनिकता समझा रहे थे।

भारती का पहला निबंध एक ऐसे उद्धरण से प्रारंभ होता है जिसकी अंतिम पंक्ति है "दुनिया के मेले में केवल एक बच्चा हूँ।" इस निबंध में जगत तथा साहित्य के व्यापार को एक मेले के रूप में देखा गया है और स्वयं को संजय माना गया है। संजय उन लोगों में से है जो "पाते हैं कि तमाम चीज़ों के बीच शायद उनका एक अंश तटस्थ द्रष्टा बना रहता है।" इसके बाद भारती कहते हैं, "तटस्थ संजय भी नहीं है और पक्षधर भी नहीं। कृष्ण की तरह इस सारे युद्ध में सिर्फ़ वही मरता है, हर बार वही मरता है।" अंत में संजय कहता है, "युद्ध ऐसा अजीब है कि स्याह और सफ़ेद घुल-मिल गये हैं... वधिक अश्वत्थामा और वध-लक्ष्य परीक्षित के बीच की रेखा बहुत क्षीण हो गई है।"

किस तरह का जीवन-दर्शन या साहित्य-दर्शन है यहाँ? ऊपर से बहुत कष्टमय, 'दो पाटन के बीच' वाली स्थिति में पड़ा हुआ, त्रासद, भारतीय ज्ञानपीठ के प्रकाशनों की ब्लर्ब सरीखा घुमावदार। किन्तु अपनी खतरनाक गहराई में दुमुँहा। जब अश्वत्थामा का ज़माना आए तो अश्वत्थामा का, जब परीक्षित् का जमाना आए तो परीक्षित् का। उभयनिष्ठ, समझौतावादी—समन्वयवादी—अनेकता-में-एकतावादी। आज जब सारी दुनिया नये सिरे से समझ रही है कि सच क्या है और झूठ क्या, तब ऐसी दृष्टि एक व्यक्तिगत पलायन-सुरंग के सिवा और क्या है?

भारती का कलाकार इसे केवल निबंध रूप में ही लिखकर संतुष्ट नहीं हुआ। उन्होंने उस पर एक खासी अलेगॉरिकल कहानी लिखना भी आवश्यक समझा और वह भी निबंध से कुछ लम्बी। भारती की यह कहानी "रत्नाकर शान्ति का सांध्य-चिन्तन" भी "पर क्या करूँ अपने इस चित्त का जो शून्य से जूझता हुआ; जो शून्य है पर शून्य पर शंका करता हुआ; जो शून्य है पर शून्य से परे कुछ खोजता हुआ" तथा "मार्ग क्या है, वैरोचन?" से समाप्त होती है।

"एक घृणा : अनेक आयाम" में भारती अंधायुग के तीन मंचनों और उनमें अश्वत्थामा के चरित्र के तीन 'इन्टरप्रिटेशन्स' की बात बताते हैं। अपनी कृति पर कुछ लिखना अपराध नहीं, कई बार तो यह आवश्यक भी हो जाता है। दुर्भाग्यवश भारती ने यह निबंध इसीलिए लिखा है कि पाठक जान लें कि अश्वत्थामा के चरित्र को कई तरह से अभिनीत करना संभव है। यह कुछ इस ढंग से कहा गया है जैसे एक ऐसे रहस्य का उद्घाटन हुआ हो जिसे साहित्य के पाठक न जानते रहे हों। भाषा ऐसी मुग्ध है कि लगता है भारती किसी और के नाटक पर लिख रहे हों। अपनी कृति पर बालिका-सुलभ आसक्ति से लिख पाने का कमाल सिर्फ़ हिन्दी के लेखक को ही हासिल है। भारती का यह भी आग्रह है कि अश्वत्थामा की भूमिका निभानेवाला हर अभिनेता अपने वास्तविक जीवन में अश्वत्थामा रहा है। उनके पहले अभिनेता कहते हैं, "तुम्हारे इस पात्र को जीता रहा हूँ पिछले हफ़्ते भर।" जब भारती दूसरे अभिनेता को उनके अभिनय पर बधाई देते हैं तो वे कहते हैं अभिनय सफल है "शायद इसलिये कि मेरी अपनी ज़िन्दगी में बहुत कड़वाहटें रही हैं।" भारती पर अंतिम रहस्योद्घाटन उस समय होता है जब उनके मित्र फ़ादर एक्सट्रास एक ज़ोरदार 'इन्टेलैक्चुअल' बहस के दौरान यकायक उनसे कह बैठते हैं, "तुम कभी-कभी अश्वत्थामा की तरह बोलने लगते हो।" मैं भारती से निवेदन ही कर सकता हूँ कि यदि उन्हें यह देखना है कि अपने नाटक पर बिना भदेस हुए कैसे लिखा जा सकता है तो वे इलियट का 'मर्डर इन द कैथेड्रल' पर निबंध पढ़ जाएँ।

"वह एक कहानी—और उसके अनेक परिशिष्ट" में एक कहानी के सहारे जीवन-दृष्टि पाने की कोशिश की गई है, मोपासाँ की एक कहानी में एक किसान ज़मीन पर से कुछ उठाते हुए देखा जाता है। उस वक्त एक धनवान तथा प्रभावशाली व्यक्ति का बटुआ भी वहीं आस-पास खोया हुआ रहता है। यह बात फैला दी जाती है कि उस किसान ने ज़मीन से जो उठाया था वह खोया हुआ बटुआ ही था, जबकि वास्तविकता यह थी कि उसने एक धागे का टुकड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

071568

उठाया था। बाद में वह बटुआ मिल भी गया किन्तु किसान पर लगा लांछन जीवन भर बना रहा और जब वह मरा तो उसके मुँह पर "बटुआ नहीं, धागे का टुकड़ा था" यही वाक्य था। भारती इसे 'अकारण यातना' की कहानी मानते हैं और इस यातना का कारण और उपाय खोजते हुए पाते हैं कि ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें दो पात्रों के बीच 'अकारण ममता' पनप आती है, और इस तरह यह सोचते हैं कि जगत में 'अकारण यातना' की क्षति-पूर्ति 'अकारण ममता' भर देती है। अव्वल तो मोपासाँ की कहानी को वही व्यक्ति 'अकारण यातना' की कहानी कह सकता है जो सामाजिक दृष्टि-रहित हो। निरपराध सताये गये किसान की कहानी ग्रीक त्रासदी के ओएदिपौस की कहानी तो निस्सन्देह नहीं है। खैर, यदि बुद्धि को ताक पर रखकर इसे 'अकारण यातना' की कहानी मान भी लिया जाये तो भारती का क्षतिपूर्ति सिद्धान्त उसी समय लागू होगा जबकि अकारण कष्ट पाने वाले उस व्यक्ति को अपने जीवनकाल में ही अकारण ममता भी मिले। भारती का सिद्धांत "जहाँ बजती है शहनाई वहाँ मातम भी होते हैं" के विपरीत संतुलन पर टिका हुआ है। किसी शोषित व्यक्ति को देखकर यह सोच अवश्य संतुष्ट हुआ जा सकता है कि दूसरी ओर अकारण समृद्ध लोग भी तो हैं। इस लेख में ही यह शोचनीय वक्तव्य भी है, "...हिन्दी का एक कहानीकार सहसा मन पर छा गया—जयशंकर प्रसाद! आज भी जब उनकी तुलना उनके समकालीन प्रेमचन्द आदि से करता हूँ तो पाता हूँ कि प्रसाद की ऊँचाई, उनकी गहरी जीवन-दृष्टि, उनकी चिन्तन-परिधि और उनकी प्रतिभा के समक्ष उनका समकालीन कोई भी कहानीकार टिकता नज़र नहीं आता" —जो भारती की दुर्भाग्यपूर्ण परख का परिचायक है।

"सर्वथा निजी" खण्ड के दोनों निबंधों में भारती अपने मौलिक रूमानी रूप में खुलकर आए हैं। पहले निबंध का पहला पैरा ही 'मन के ख़ाली-ख़ाली प्याले,' 'दो चार बूँदें,' 'सूनी-सूनी अंजलि,' 'अजीब-सा खालीपन,' 'सूनापन,' 'उदासी,' 'पुरानी चोट,' 'बेदर्द ठोकर,' 'घाव' और 'टपकन' आदि से रिस रहा है। ऐसे वातावरण में कीट्स का ख़याल कैसे न आता और फिर कीट्स भारती की जाति का था (इसके पहले कि मूर्ख पाठक उसे कायस्थ समझे, वह बताते हैं 'कलाकार था') इसलिए उसकी कविता से एक और उद्धरण ज़रूरी हो आया। हुआ किन्तु यह कि अंग्रेज़ी के 'राइपनिंग ब्रेस्ट' 'धीरे-धीरे खिलते हुए वक्षस्थल' हो गये। गद्य का एक और नमूना इस प्रकार है, "उस अर्ध-रात्रि की चाँद-भीजी नीरवता में, उस नीलिमा-स्नात कक्ष में जब सूखे केशों से, सीपिया कंधों की ढलानों से, वेतसलता के गुलाबों की घाटियों से रजनीगंधा की श्वेत नशीली कलियाँ झर-झर करती हुई गिरी थीं..." दूसरा निबंध एक प्रेम-पत्र है। प्रेम-पत्रों में सब कुछ लिखना जायज़ है इससे कौन इन्कार कर सकता है किन्तु प्रेम पत्रों को निबंध-संग्रह में छपाना कलेजे का काम है, खासकर ऐसे प्रेम-पत्र को, "आज बहुत दिनों बाद याद आ रही हैं नवम्बर-दिसम्बर की अलसायी हुई सर्द दुपहरियाँ, जब तुम मुझसे रिल्के की कितनी-कितनी कविताएँ सुन-सुनकर खोई-खोई-सी रहती थीं।" वैसे तो हमें किसी की व्यक्तिगत ज़िन्दगी से क्या लेना-देना, किन्तु जब भारती अपने प्रेमपत्र भी साहित्य में छपाने लगे हैं तो 'नो होल्ड्स बार्ड' की स्थिति बन जाती है। भारती खासी मिहनत से अपने प्रेम-पत्र लिखते हैं क्योंकि उनमें कीट्स से लेकर कन्फ्यूशियस तक के उद्धरण रहते हैं। कन्फ्यूशियस के उद्धरण अंग्रेज़ी अनुवाद में रहते हैं, मूल चीनी से दिक्कत से लेकर ग़लतफ़हमी तक हो सकती है। एक बायकायदा लव-लैटर रिफ़रेन्स लाइब्रेरी का चित्र उभरता जिसमें है कालिदस, केवेफ़ी आदि में 'कम्प्लीट वर्क्स' अपने-अपने शेल्फ से पुकार रहे हैं और उद्विग्न प्रेम-पत्रकार 'तभी तो एक कवि ने यहाँ तक कह डाला है' के बाद का कोरा पृष्ठ लिए सही उद्धरण की तलाश में खोया-खोया घूम रहा है। वैसे यह निबंध एक 'पेप-टॉक' है जो लेखक शायद अपने 'टूटते हुए प्यार' का मनोबल ऊँचा करने के लिए लिख रहा है और इसमें वही आह्वान और कुछ कर गुज़रने की भावना है जिसे व्यक्त करने में हिन्दुस्तानी प्रेमी का आधे से ज्यादा वक्त ज़ाया होता है।

संग्रह के शेष निबंधों में से दो पर ही चर्चा की जा सकती है, जो "भाषा का प्रश्न और कुछ बुद्धिजीवियों का रुख" तथा "आधुनिकता अर्थात् संकट का बोध" हैं। पहला निबंध हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद दिलाने के मार्ग में विद्यमान संकटों तथा हिन्दी के सवाल को लेकर स्वयं तथाकथित 'हिन्दी वालों' एवं देश के कर्णधारों के पाखण्ड का विवरण है। निबंध बहुत लम्बा है किन्तु अपनी बात साफ़-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साफ़ तथा आवेगपूर्वक कहता है। यह निबंध सात वर्ष पहले लिखा गया था और तब से अब तक हिन्दी के साथ बेईमानियाँ कम नहीं हुईं, और बढ़ गई हैं। भारत के बदले हुए राजनीतिक नक्शे में, जिसमें नाना प्रकार के घृणित समझौतों से सरकारें कुर्सियों पर जमी हुई हैं, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की आवाज़ उठाकर कोई भी खतरा मोल नहीं लेना चाहता। आज 'बुद्धिजीवियों' की और भी बड़ी जमात पदों की तलाश में है या उन्हें बचाने की फ़िक्र में है—हिन्दी की कौन सुनेगा, इस समय जबकि देश में सरकारी, अर्धसरकारी, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों में हिन्दी-विरोधी सर्वोच्च पदों पर जमे हुए हैं, भारती सरीखे सम्पादकों को चाहिए कि शिवानी की कूड़ा कहानियाँ या 'शास्त्रीजी की मृत्यु—फ़्लास्क का क्या रहस्य था' नुमा लेख न छापकर हिन्दी के प्रश्न पर सरकार को अनवरत रूप से जनता की अदालत में खड़ा करें।

दूसरा निबंध "आधुनिकता अर्थात् संकट का बोध" इस संग्रह का सबसे पुराना निबंध है और आज से ग्यारह वर्ष पहले लिखा गया था। तब से आधुनिकता' तथा 'संकट' आदि शब्दों के अर्थ में काफ़ी परिवर्तन हुआ है। ऐसी स्थिति अब नहीं रही—"परिणाम यह था था कि हम सारे मूल्यों का अवमूल्यन पाते हैं। एक विराट् अराजकता, एक घातक अन्धकारमय शून्य। मूल्यों के इस विघटन ने कैंसर की तरह मानवीयता को अंदर से खोखला बनाना शुरू किया। प्रकृति पर ज्यों-ज्यो विजय प्राप्त हुई मनुष्य त्यों-त्यों अपने को हारता गया" इसमें सन्देह नहीं कि मूल्य विघटित हुए थे और हो रहे हैं किन्तु सारे विश्व की जनता अब इसी कारण असहाय नहीं बैठी हुई है। हर जगह नई ताकतें और नई प्रवृत्तियाँ पुनः मूल्यों को पहचान रही हैं और तमाम विघटन के बीच बेहतर भविष्य के लिए कोशिश कर रही हैं। अमरीका सरीखे दकियानूस राष्ट्र में भी एक नये अन्तःकरण का जन्म इसका प्रमाण है। भारती का यह निबंध ऊपरी ब्यौरे और 'ऐतिहासिकता' के पुट से अपने कुल प्रभाव में पाठ्यपुस्तकोपयोगी बन गया है।

भारती के 'निबंधों' का दूसरा संकलन[1] 'धर्मयुग' में प्रकाशित ५ फरवरी १९६१ से वसंतपंचमी १९६३ के बीच लिखी गई ४५ टिप्पणियों का है। यह पूछा जा सकता है कि नौ से लेकर सात वर्ष बाद तक प्रकाशित इन सामयिक लेखों का अब क्या महत्त्व है। इन समस्त लेखों को पढ़ लेने के बाद यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे सारे बेकार हो चुके हैं किन्तु इसमें क्या संदेह है कि यदि वे १९६४ में प्रकाशित होते तो इनका एक अलग महत्त्व तथा प्रभाव होता। १९७० में इन्हें पढ़ते समय इनके 'डेटेड' होने का अहसास हर वक्त रहता है, और पढ़ने को भले ही पढ़ जाएँ, पूरा टिप्पणी-संग्रह कोई प्रभाव अब नहीं छोड़ता। प्रतिष्ठित लेखक की प्रारम्भिक रचनाए प्रकाशक खोज-खोजकर छापते हैं और वह थोड़ा-बहुत उचित भी है, किन्तु इन टिप्पणियों को अब प्रकाशित कर भारतीय ज्ञानपीठ ने अपनी प्रतिष्ठा घटाई ही है, वैसे 'प्लैटिट्यूड्स' तथा लोकप्रिय शैली के अन्य दोषों को नज़रअंदाज़ कर दें तो कुल मिलाकर दोनों संग्रहों में भारती का गद्य अपठनीय नहीं है और कहीं-कहीं—जैसे 'रामायण : बतर्ज़ मेरठ', 'हाय हाथी! हाय', 'आयी, आयी बम्बई वाली (बरसात)' 'सबमिशन' आदि में—उससे आनंदित भी हुआ जा सकता है। भाषा के प्रश्न पर भारती ने लगातार बहुत अक्लमंदी से लिखा है, और 'कहनी-अनकहनी' में तीन-चार चुस्त टिप्पणियाँ इस मसले पर हैं, किन्तु इन दोनों निबंध-संग्रहों को पढ़ जाने के बाद भारती एक औसत पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी के रूप में ही उभरते हैं क्योंकि इन निबंधों में गहरी दृष्टि, विस्तृत अध्ययन, विशिष्ट हास्य तथा व्यक्तित्व का अपनापन दिखाई नहीं देता।

●

१. 'कहनी-अनकहनी' धर्मवीर भारतीः भारतीय ज्ञानपीठ : ६)

[stamp]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

राजकमल
का
एक
अभिनव प्रकाशन

•

पठनीय
और
संग्रहणीय

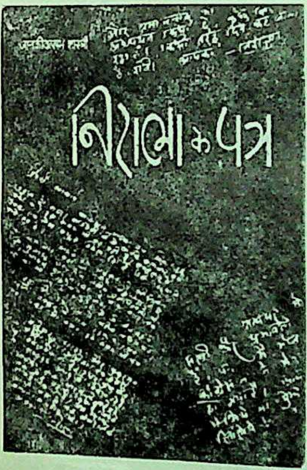

डिमाई आकार

•

रैक्सिन की
मजबूत जिल्द

•

मूल्य १८.००

निराला के पत्र

सं० जानकीवल्लभ शास्त्री

महाकवि निराला के आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को लिखे गए महत्वपूर्ण पत्रों का संकलन, जानकीवल्लभ जी की विस्तृत भूमिका और विशद पाद-टिप्पणियों सहित !

इस पुस्तक में महाकवि के और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के व्यक्तित्व के नए आयामों का उद्घाटन हुआ है !

महाकवि की हस्तलिपि में कुछ पत्रों और कविताओं के साथ निरालाजी का एक दुर्लभ छायाचित्र !

•

एक आगामी प्रकाशन

मुक्तिबोध के पत्र

सं० नेमिचन्द्र जैन

जिन्दगी की सारी कड़वाहट को पी-पचाकर साहित्य-सृजन करनेवाले रचनाकार मुक्तिबोध के ये पत्र, जो उन्होंने नेमिचन्द्र जैन के नाम लिखें थे, हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। इन पत्रों में उनका राग-विराग सुख-दुख, वैयक्तिक-सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं पर विचार-अभिमत सब कुछ पाठकों को मिलेगा।

'निराला के पत्र' के क्रम में
एक और महत्वपूर्ण कृति

राजकमल

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

दिल्ली-६ पटना ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल का एक और गौरवपूर्ण प्रकाशन जिसे इस वर्ष के साहित्य अकादमी पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया गया है

"निराला-जैसा साहित्यकार सदियों में कभी एक होता है"

—महादेवी वर्मा

और

'निराला की साहित्य-साधना' भी हजारों में एक सिद्ध हुई है !

029568

...ने इस महाकाव्य की रचना इसी अवध में की थी जिसे अब नैमिषारण्य कहते हैं। पौराणिक काल में यह नैमिषारण्य कथा-वाचकों का केन्द्र था। यहां से अनेक व्यास और सूत कथा-वाचक पुराणे लिखकर, नये-नये प्रदेशों में घूमकर उन्होंने सारे देश को एकता के सूत्र में बांधा। १६वीं सदी में रायबरेली जिले के जायसवासी मलिक मुहम्मद ने अवधी में अपना प्रबन्ध-काव्य 'पद्मावत' लिखा। इसका प्रभाव दूर-दूर तक

...स्वभाव के थे, पर मन में मैल न जमने देते थे। भाइयों ...बराबर मदद करते रहे। इधर ईश्वरप्रसाद गर्ग के बाद ...के पुत्र मनी प्रसाद गर्ग राजा हुए। उनसे भी रामसहाय ...र रामलाल की अच्छी निभती रही। रामसहाय ने कुछ ...बीघे लिए थे। अपनी पत्नी के लिए कुछ गहने बनवाए, ...लिए उन्होंने बड़ी चूड़ियों का एक कड़ा बनवाया। सोने ...कड़ा पहने बिना गांव में कोई इज्जतदार न कहलाता था। ...रामसहाय की यह साध भी पूरी हुई। एक ही साध बाकी ...। वह चालीस पार कर चुके थे और अभी सन्तान का मुंह ...देखा था। आखिर महावीर स्वामी ने यह साध भी ...री की।

कोई अनहोनी बात न थी। पर अब उनकी ...की न थी। वह बेटे को सहलाते-पुचकारते, ...को अपने पास सुलाते। पर दिन में हमेशा सम्भव न था। नौकरी पर जाते समय वह ...प्रसाद शुक्ल के दरवाजे पर आवाज देते, ...कर आती। सूर्यकुमार को उनके सुपुर्द करके चले जाते। ज्वालाप्रसाद शुक्ल के भी ...नाम था रामशंकर, उम्र में सूर्यकुमार से ...था। दोनों बच्चे साथ खेला करते। परदेस ...के लोग आपस में बड़ा भाईचारा ...में एक-दूसरे का साथ देते हैं। सूर्यकुमार ...

माघ शुक्ल ११, संवत् १९५५, अनुसार २१ फरवरी ...८९९ को रामसहाय तेवारी के घर पुत्र-जन्म हुआ। ...मनका था; महावीर स्वामी ने अपनी पूजा के ही दिन ...रामसहाय को पुत्र का मुंह दिखाया। घर-बाहर बाजे बजे; ...ई, धोबी, डोम वगैरह नेग मांगने आये। मोहल्लेवालों ...रे के लिए रामसहाय को लगा कि वह गढ़ाकोला में ही ...रहे हैं। खैर, अभी न सही, जैसे ही मौका मिला, ...पुरखों की ड्योढ़ी भुलाने बच्चे को गांव जरूर ले जाएंगे।

पंडित ने जन्मकुण्डली बनाई। कहा—लड़का नामी है, ...ब्याह लिखे हैं, है बड़ा भाग्यवान, बड़ा नाम करेगा। ...का नाम रखो—सूर्यकुमार। रामसहाय ने सोचा—दो ...व्याह हमारे हुए, बेटा भी कुल की रीति निबाहेगा।

सूर्यकुमार पड़ोस की स्त्रियों के खिलौना हो गए। ...देखकर वे कहतीं—महतारी तो सांवरी है, मुन्ना गोरा ...है; बाप की पड़ा है, आंखें और नाक हूबहू जमादार ...ही हैं।

रामसहाय की अपनी उम्र में पुत्र का मुंह देखने की ...पर अब एक नयी चिन्ता सताने लगी। उनकी पत्नी ...स्वास्थ्य ठीक न रहता था। ...और से निकलने ...बाद वह फिर पनपी ही नहीं। सूर्यकुमार अभी बोलना ...सीख रहे थे, करीब ढाई साल के हुए होंगे कि उनकी मां चल

...मिलता था। स्त्रियां हाथों-हाथ रखतीं। ...भी खाने-पहनने को मांगते, वही मिलता। ...स्वभाव में खिलाड़ी, नटखट और ...चले।

सूर्यकुमार की खेलने की जगह बहुत ...शानदार, उसके सामने बस्ती का ...है। यहां राजा रहते हैं, हम उनके नौकर ...कुमार की समझ में आने लगा। ...महल की तरफ जाते। हर तरफ हरी-हरी ...सुन्दर क्यारियां और फूल-ही-फूल ...गुलाब, बेला, जुही की क्यारियां सूर्यकुमार ...कर देतीं। पर वह सब दूर से देखा जा सकता ...है, वहां खेलना मना है।

रामलाल का लड़का ...प्रसाद अब ...रहा था। उसका ब्याह करना जरूरी था। ...काम-काज गढ़ाकोला में ही हो सकता था। ...तब रामसहाय बच्चों को लेकर पुरखों के ...गांव ...का ब्याह करके रामलाल के साथ ...

सूर्यकुमार ने पहली बार ...और ...उन्नाव, गांव के किनारे ...पर ...हरियाली ...

साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत होनेवाला राजकमल का यह पांचवां प्रकाशन है !

डॉ० रामविलास शर्मा की यह महान ऐतिहासिक कृति अब नए संशोधित-संवर्द्धित संस्करण में नई साज-सज्जा के साथ उपलब्ध है !

मूल्य २७.००

इस खण्ड में निराला की राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक विचारधारा का विवेचन किया गया है, जिससे विदित होगा कि निराला ने अपने युग की समस्याओं पर कितनी गहराई से विचार किया था।

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्रीमती शीला सन्धु, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८, फ़ैज बाजार दिल्ली के लिए

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1939-2009

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

59, 115

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri